विलक्षण हैं दशलक्षण



मुनि समतासागर

पर्वराज पर्यूषण के दिन

पर्वराज पर्यूषण के दिन कितने सुन्दर प्यारे।
पाप ताप सब भाग रहे हैं दशों धरम हैं धारे।।

क्षमा धरम पर क्रोध तजा है, मान, मार्दव के दिन।
तजी कुटिलता आर्जव पाकर हृदय साफ शुचिता दिन।।
झूठ सत्य का भेद समझकर संयम के स्वर स्वीकारे
पर्वराज पर्यूषण......

तप के दिन तप महिमा जानी, संग, त्याग दिन, त्यागा
भारमुक्त आकिञ्चन होकर ब्रह्मचर्य मन लागा
मुक्ति महल की ये दश सीढी या समझो दश द्वारे
पर्वराज पर्यूषण......

कहीं तपस्या कहीं त्याग, उपवास कोई जन करते
पूजन भक्ति स्वाध्याय कोई जन चिंतन करते
वातावरण धर्ममय है, हैं आनंदित जन सारे
पर्वराज पर्यूषण......

पर्वराज पर्यूषण के दिन कितने सुन्दर प्यारे।
पाप ताप सब भाग रहे हैं दशों धरम हैं धारे।।

○ **रचयिता:–**
मुनि समतासागर

विलक्षण हैं दशलक्षण

मुनि समतासागर

✡ विलक्षण हैं दशलक्षण

मुनि समतासागर

✡ लेखन प्रसंग—पर्वराज पर्यूषण
(भोपाल एवं गोटेगाँव—1995-96)

✡ प्रकाशन सदर्भ—

मुनि श्री समतासागर, मुनि श्री प्रमाणसागर, ऐलक श्री निश्चयसागर, महाराज के गोटेगाँव (नरसिंहपुर म.प्र.) सन् 1996 के चातुर्मास में समवशरण विधान के शुभावसर पर प्रकाशित।

✡ **प्रकाशक—** सुनील कुमार जैन (गब्बू भाई)
एस. के. कम्प्यू प्रिंटस प्रा. लि.
६६०/६६१ राईट टाऊन जबलपुर (म.प्र.)
फोन—३१२४६७

✡ **प्राप्ति स्थल—**

सुनील कुमार जैन (गब्बू भाई)
एस. के. कम्प्यू प्रिंटस प्रा. लि
६६०/६६१ राईट टाऊन जबलपुर (म.प्र.)

शशांक कुमार जैन
सुरेश एजेन्सीज, गोटेगांव
फोन:—२२०३६

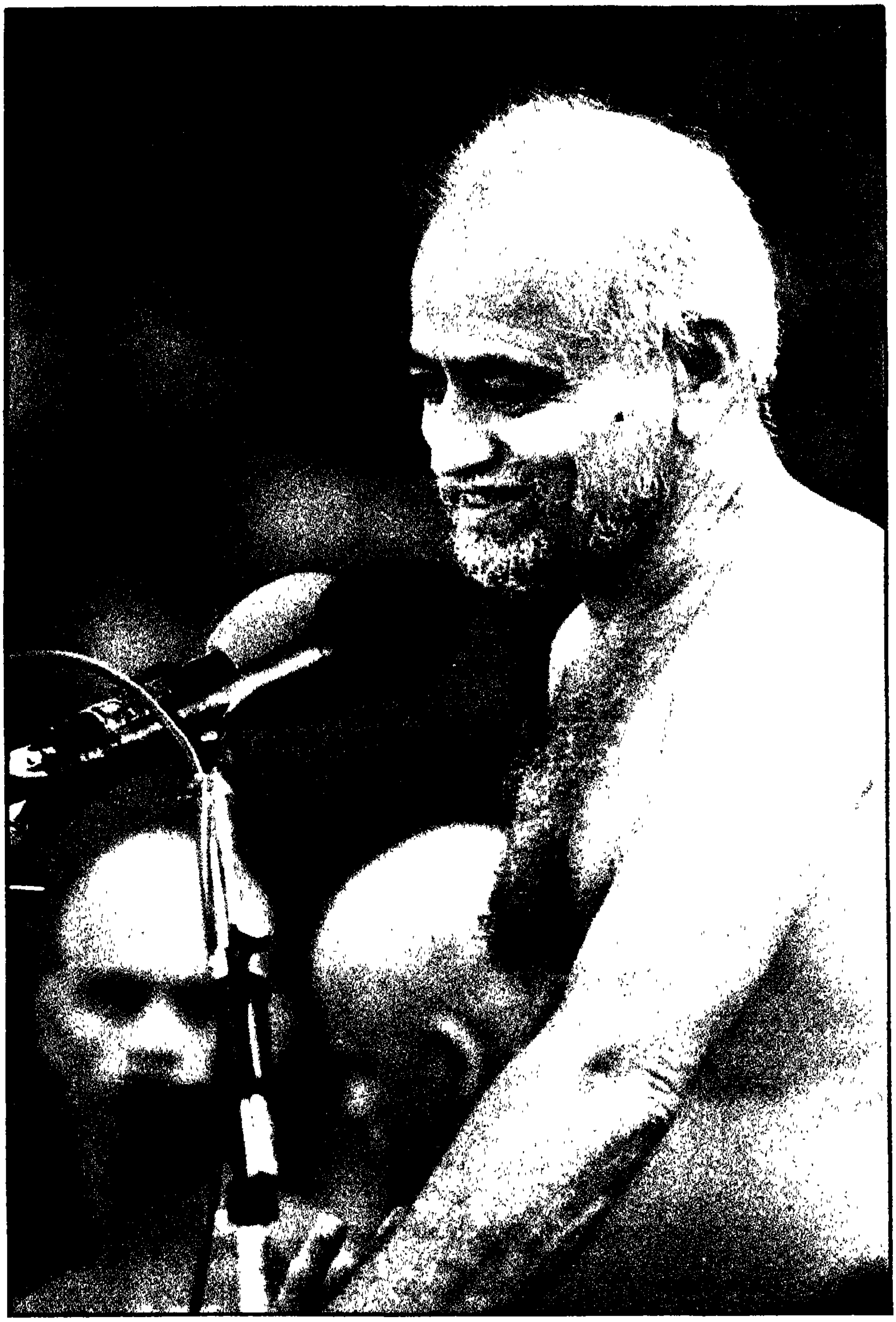
✡ **कम्प्यूटर कंपोजिंग**
शॉप नं. ५ कम्प्यूटर पोर्ट
महाराष्ट्र स्कूल के पास नारीमन सेन्टर,
राईट टाऊन जबलपुर (म.प्र.)

✡ **मुद्रक—**
शब्द पब्लिकेशन्स,
इन्दौर - ४५२ ००९
फोन : ४८०००५

कव्हर आवरण : श्री जगदीश पटेल, जबलपुर

मूल्य ~~५.~~/- रु.
२५/-

अपने गुरुवर
आचार्य श्री
विद्यासागरजी के
रजत आचार्य पद
प्रतिष्ठापना महोत्सव
की पुनीत बेला में
उन्हें सादर सविनय
समर्पित **समता** का
यह सृजन



परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

पूर्वालोक

धर्म जीवन का आधार है। आत्मा का स्वभाव है, सार है। बाह्य जीवन को चलाने के लिये जैसे श्वास, हवा, पानी आदि तत्त्व जरूरी हैं ठीक वैसे ही भीतरी जीवन के लिए धर्म अत्यन्त आवश्यक है। धर्म से ही हमारी चेतना का जीवन चलता है। सुखकारक पतितोद्धारक इस धर्म को शब्दों की कई कई परिभाषाओं में बांधा गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में धर्म के विभिन्न लक्षणों को बतलाने वाली एक गाथा आई है :–

वत्थुसहावो धम्मो खमादि भावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमादि भाव वाला दशलक्षण धर्म है, रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना धर्म है। धर्म की इस लक्षणावलि में एक तारतम्य है। क्रमबद्धता है, अर्थात् वस्तु स्वरूप धर्म को तभी पाया जा सकता है जब हमारे जीवन में दशविध धर्म आयें। दशविध धर्म रत्नत्रय के धारण करने पर प्राप्त होते हैं और रत्नत्रय प्राणियों की रक्षारूप अहिंसा की प्रतिपालना में ही संभव है। अतः धर्म के यह विविध लक्षण एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन सभी लक्षणो से ध्वनि उसी उपादेय परम वीतरागता की ही आती है। सर्वारम्भ परिग्रह के त्यागी साधु पुरुषों का जीवन तो धर्म की साक्षात् मूर्ति ही माना गया है किन्तु गृहस्थ श्रावक इन धर्मों का पालन आंशिक रूप में करता है।

"प्रस्तुत कृति – **"विलक्षण हैं दशलक्षण"** दशलक्षण धर्म की सार संग्राहिका है। दशधर्मों के सम्बन्ध में प्रवचन की विधा में लघु लेख लिखकर कृति की आकृति दी गई है। अभी तक दशधर्मों पर तैयार हुई पुस्तको में या तो शास्त्रीय शैली की पुस्तकें मिलती हैं या एकदम विस्तृत प्रवचन के रूप में। कुछ लघु लेख भी देखने में आये पर कुछ अभाव सा ही महसूस होता रहा। उसी उद्देश्य की पूर्ति में यह

प्रयास किया गया है। मेरा यह प्रयास पूर्णतया उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है ऐसा तो मैं नहीं कहता पर इतना जरूर है कि विचारक और खोजी जनों को उस दिशा में सोचने, समझने, गति पकड़ने यह पुस्तिका आधार बनेगी। इसमें धर्म से संबंधित आगम ग्रन्थों की गाथायें/श्लोक और तद्विषयक अन्य नीति या धर्म से जुड़े हुये श्लोकों का चयन कर संयोजन किया गया है।

सर्वप्रथम पर्यूषण पर्व से संबंधित लेख है फिर दशधर्म के लेखों के प्रारम्भ में हर धर्म से संबंधित मूलगाथा/श्लोक, हिन्दी अर्थ सहित दो पृष्ठों में रखे गये हैं। अंत में क्षमावाणी पर्व को रखते हुए पं. कवि द्यानतराय कृत दशलक्षण धर्म की हिन्दी पूजा भी सम्मिलित की गई है। यह सामग्री भोपाल एवं गोटेगांव चातुर्मास (१९९५–९६) के अवसर पर पर्यूषण पर्व के दिनों मे तैयार हुई है। इस तरह की समायोजना में विचार यह रहा है कि सब तरह की सामग्री एक ही पुस्तक में उपलब्ध हो सके। दशधर्म के रेखाचित्र आचार्य गुरुवर "श्री विद्यासागर जी" महाराज के प्रवचनों की कृति "प्रवचन पर्व" से लिये गये है।

आज की आपाधापी भरी जिन्दगी में जबकि पर्यूषण के दिनों में ही धर्म के प्रति कुछ चेतना जनमानस में जागृत हो पाती है। इस लेखन कार्य में अपनी स्पृहा बस इतनी ही है कि उन दिनों में ही सही यदि कुछ जीवनोपयोगी किसी के हाथ लग गया तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा। स्वयं समझने और दूसरों को समझाने के लिए गरिष्ठता और वरिष्ठता से परे सहज, सुग्राह्य सामग्री सुधी श्रावक और उपदेष्टाओं तक पहुंचाने की यह पहल आप सबके सामने है।

मुनि समतासागर
शरद पूर्णिमा गोटेगांव

यह है वह जो विलक्षण है

दशलक्षण धर्म/धर्मों पर जैनधर्म के अनेक आचार्यों ने लिखा है। कई आचार्य–भगवन्तों ने विस्तार से लिखा है तो कई ने अत्यन्त संक्षिप्त में, कहें, सूत्रों में।

उक्त दोनों प्रकार के, परम्परा से चले आये सु–लेखन और सद्लेखन के बीच, लेखन का एक और नया प्रकार हो सकता है, जो वर्तमान सभ्यता में दर्शन ज्ञान चरित्र के प्रति नवीन प्रेरणा का संचार करने में सहायक सिद्ध हो, नव–लगाव का बोध जाग्रत करे और आदमी को आचारवान, विचारवान बनाये तथा वह (लेखन) न विस्तार से हो, न सूत्र–सूत्र हो। ऐसे लेखन की एक हार्दिक–तड़प इस पुस्तक में देखने मिली है। तब लगा **मुनिरत्न समतासागर जी ने आज के व्यस्त, मजबूर किन्तु बुद्धिवादी जन समूह के लिये लेखन का नया मार्ग चुना है जो विषय–वस्तु को, न केवल पाठक के गले में उतारे, बल्कि उसे हृदयात्मा के पावन प्रांगण में स्थाई रूप से स्थापित रहे आने का आसन भी दे।**

सर्वप्रथम पर्यूषण पर्व पर उचित सोच उत्पन्न करने के उद्देश्य से एक "दशधर्मगर्भा" निबन्ध शिल्पित किया गया है फिर दशधर्मों पर पृथक–पृथक दश निबन्ध पढ़कर श्री मुनिवर ने श्रावकों को धर्म का सारल्य सहज ही प्राप्त कर लेने का पुरुषार्थ प्रदान कर दिया है। उत्तम क्षमा से लेकर उत्तम ब्रह्मचर्य तक उनके सभी आलेखों ने इतना संतुलित स्वरूप धारण किया है कि पाठक जितनी तीव्रता से लेख पूरा करता है, उतनी ही तीव्रता से धर्म के लक्षण धारण करता चलता है आत्मा की मंजूषा में। कहें–पाठक को न पढ़ने में समय लगता है, न समझने में और न ही पढ़े हुए को आचरण में ढालने में। एक पुस्तक की इससे स्वस्थ और सार्थक "त्रिक" क्या हो सकती है, संरचना क्या हो सकती है।

दशधर्म–प्रणीत आचरण प्राप्त कर लेने के बाद पाठक के मन में एक ऐसा भाव स्फुरित हो कि जिससे चारों दिशाओं की ओर नई–नई सरिताएँ बह निकलें और उनमें पानी के स्थान पर क्षमा

बहती हुई अनुभूति में आये– यह बात पूज्य समतासागर जी ने अपने चिंतन के गवाक्ष से भॉप ली थी, अतः उन्होंने पुस्तक में–''क्षमावाणी'' पर हृदयग्राही निबन्ध रख दिया, जो सिद्ध करता है कि विश्व मैत्री के भावों से ओत–प्रोत क्षमा–तत्त्व की आवश्यकता भी मानव–मात्र को पल पल होती है। ऐसी क्षमा जो मानव के आत्म सरोवर से निःसृत हो और प्राणी–प्राणी के समीप तक उसकी धाराएँ जाएं और शीतलता प्रदान करें।

इस प्रकार इतना सब पढ़ लेने, पा लेने पर पाठक को आगामी क्षणों में उल्लास हो जाता है कि दशधर्मों की पूजा भी की जावे। पाठक के हर्ष का ठिकाना नहीं रहता जब वह लेखों के बाद–प्रातःस्मरणीय कवि द्यानतराय जी द्वारा रचित ''दशलक्षण धर्म–पूजा'' को निर्दोष रूप में इसी पुस्तक पर मुद्रित पाता है। विशेष बात यह है कि इस कृति में दशधर्मो से सम्बंधित मूल आगम ग्रन्थों की गाथाओं/श्लोकों का तो संकलन किया ही गया है किन्तु धर्मों के सम्बन्ध में अन्य जो नीतिपरक श्लोक चुन चुनकर रखे गये हैं उससे पुस्तक की प्रस्तुति और मुखर हो उठी हैं। इस कार्य से विद्वतवर्ग/प्रवचनकारों के लिये पुस्तक अत्यधिक उपयोगी हो गई है।

इस पुस्तक के गठन–संकलन और सार्थकता के पार्श्व में मुनिराज की उस वृत्ति ने कार्य किया है जो जन जन को श्रद्धावान, ज्ञानवान आचरणवान के साथ साथ क्षमावान भी देखना चाहती है। पुस्तक के मूल आधार में यह दृष्टि रखना ही–जन जन को ''कुछ'' दे देने की महान घोषणा करती है।

मैं मुनिवर की रचनाधर्मिता और रचनात्मकता पर मुग्ध हूँ, वे कभी प्रवचनों के माध्यम से तो कभी लेखनी के माध्यम से वह–वह करते चल रहे हैं जिससे एक आदमी ''सही आदमी'' बने, बना रहे। उनके प्रयास की प्रशंसा करता हूँ। उनका ''विलक्षण हैं दशलक्षण'' कृति पर किया गया कार्य प्रणम्य है। उन्हें मेरा नमोस्तु।

दिनाँक ११.१२.६६ — **सुरेश सरल**

जबलपुर — २६३ गढ़ाफाटक, जबलपुर.

समर्पण के दो शब्द

इस पावन नर्मदा सिंचित भूमि पर जब प्रथम बार आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के कदम पड़े थे तब किसी ने यह नहीं सोचा था कि उनका या उनके संघ के किन्हीं मुनिराजों का चौमासा कभी इस छोटे से नगर में होगा।

परम पूज्य गुरुवर मुनि श्री समतासागर जी, मुनि श्री प्रमाण सागर जी एवं ऐलक श्री निश्चयसागर जी जब ग्रीष्म काल के लिये गोटेगांव आये तो मैंने व्यक्तिगत तौर पर लोगों का जो लगाव देखा वह चमत्कारिक था। **नगरवासियों ने उसी वक्त संकल्प किया था कि अज्ञान रूपी अंधकार में डूबे इस नगर को दीपक स्वरूप प्रकाश पाने की नितान्त आवश्यकता है। फिर प्रयासों का क्रम ऐसा चला कि चातुर्मास का सुयोग बन ही गया। दीप–प्रकाश की आशा रखने वालों को तो लगा कि चातुर्मास में उन्हें प्रकाश–पुंज सूर्य ही मिल गया है।**

मुनिसंघ के प्रवास में जैन जैनेतर बंधुओं के बीच सार्वजनिक सभाओं में जिनधर्म और साधुचर्या की जो प्रतिष्ठापना हुई वह अद्भुत और ऐतिहासिक रही। दशलक्षण धर्म, जैन विद्या संस्कार शिक्षण शिविर और समवशरण विधान, पिच्छिका परिवर्तन आदि कार्यक्रम चातुर्मास की विशेष उपलब्धि रही। मुझे जानकारी मिली कि मुनि श्री समतासागर जी ने दशधर्म पर एक बहुत ही सुन्दर पुस्तक तैयार की है। बस फिर क्या–था, गुरुवर के निकट पहुंच गया। और पूज्य समतासागर जी महाराज की सारगर्भित अद्वितीय कृति **"विलक्षण हैं दशलक्षण"** प्रकाशित करने की अनुमति मिल गई। इस कार्य के निमित्त से जिनवाणी की भक्ति और गुरु सेवा एक साथ दोनों कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस कार्य से हमारा सम्पूर्ण परिवार बहुत–बहुत अनुग्रहीत है। मैं भावना करता हूं कि पूज्य महाराज श्री हम सभी के जीवन को इसी तरह धर्म के मार्ग में लगे रहने की प्रेरणा देते रहें।

पुनः पुनः नमन/नमोस्तु के साथ।

सुनील कुमार जैन (गब्बू)
S.K. कम्प्यूप्रिंटस प्रा. लि.
स्टेशन रोड गोटेगांव

अनुक्रम

कृति में यह भी

✡ जिनवाणी स्तुति, ✡ समर्पण के दो शब्द
✡ पूर्वालोक ✡ प्रभावना के सुखदायी क्षण
✡ कविता, क्षणिका, दोहे और मुक्तक



"धर्म के सूत्रपाती कदम"

(गोटेगांव चातुर्मास हेतु आगमन २६-७-९६)

पर्वराज पर्यूषणः विचार के वातायन से

पर्वराज पर्यूषण का पुनः आगमन हो रहा है। यह पर्व ही नहीं पर्वराज माना गया है। पर्यूषण का अर्थ है सब ओर से इन्द्रिय और मन की असंयत प्रवृत्ति को रोककर आत्मा के बारे में चिन्तन मनन करना। इस पर्यूषण का ही दूसरा नाम दशलक्षण पर्व है। लक्षण से किसी वस्तु को जाना पहचाना जाता है। जिन बातों से हम अपनी आत्मा को जान पहचान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं वह है दशलक्षण। इन दशलक्षणों से आत्मा के विशुद्ध धर्ममय होने की जानकारी मिलती है। यहां इस बात को भी समझना जरूरी है कि यह दशलक्षण विभिन्न धर्म नहीं हैं बल्कि धर्म के दश अंग ही हैं। अर्थात् पृथक्–पृथक् सत्ता में नहीं किन्तु इनका सम्मिलित आचार–बोध ही धर्म है। इसे इस तरह से समझना चाहिये कि धर्म एक सुवासित पुष्प है और दशलक्षण उसकी पांखुरी। धर्म एक हार है और दशलक्षण उसकी मणियां। या धर्म एक सागर है और दशलक्षण उसकी लहरें। अतः कुछ भिन्न दिखाई देते हुये भी यह सब मूलतः अभिन्न ही हैं। यदि आप सोचें कि धर्म के दश ही लक्षण क्यों हैं ? तो इसका अभिप्राय मैं इतना ही समझता हूं कि सुना गया है कि रावण दशमुखी था,(यथार्थ में वह एकमुखी ही था, उसके हार में दशमुख दिखाई देते थे) तो लगा कि जब रावण अर्थात् अनीति और अधर्म के दशमुख हो सकते हैं तो नीति और धर्मरूप राम के दशमुख क्यों

नहीं हो सकते। पर्यूषण के यह दशमुख न्याय, नीति और धर्मरूप आतमराम के ही दशलक्षण हैं।

पर्यूषण के इन दिनों को पर्व कहा गया है। पर्व का अर्थ अवसर, सन्धि, पोर या किसी से जोड़ने वाला बिन्दु, यह सब पर्व के ही पर्यायवाची माने गये हैं। जिन क्षणों में जीवन जीने के लिये नया प्रकाश मिलता है, परमात्मा के प्रति प्रेम प्रीति का भाव जनमता है। नया आनन्द उल्लास उमंग का वातावरण बनता है। पुरानी दिनचर्या बदलती है। खानपान और विचारों में परिवर्तन का क्रम शुरु हो जाता है और मन सद्‌विचारों से भरकर तन का साथ देने लगता है, बैर विरोध विसम्बाद से हटकर वात्सल्य मैत्री और सौहार्द की अभिवृद्धि होती है वह है दशलक्षण पर्व। सच बात तो यह है कि पर्व हमारी उदास टूटी हुई जिंदगी को उत्सव से जोड़कर चला जाता है। यह दशलक्षण पर्व प्रतिवर्ष माघ, चैत्र और भाद्रमास के शुक्लपक्ष की पंचमी से चतुर्दशी तक वर्ष में तीन बार आता है किन्तु भाद्रमास की विशेषता ही कुछ अलग है। सुहावना मौसम, वर्षा ऋतु का आगमन, समशीतोष्ण प्रकृति, तथा व्यवसाय की मंदता आदि कारणों से सारे देश में भाद्रमास का ही यह पर्व विशेष उत्सव के रूप में मनाया जाता है। क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य रूप इन दशलक्षणों में क्षमा को प्रथम स्थान दिया गया है। जिसका कारण है कि क्षमा का भाव ही संपूर्ण धर्म–साधना की मनोभूमि प्रदान करता है। इसके आने पर ही मृदुता ऋजुता आदि शेष धर्मों की बात आती है। क्षमा से प्रारंभ हुई यह धर्म–यात्रा आत्मरमण रूप ब्रह्मचर्य में परिणत हो जाती है। तथा अन्त में सामूहिक क्षमावाणी का आयोजन कर पर्व का समापन कर दिया जाता है। किसी को माफ कर देना या किसी से माफी मांग लेने मात्र का नाम क्षमा नहीं है क्योंकि यह कार्य तो बहुत ऊपरी औपचारिक भी हो सकता है पर इस

धर्म का अर्थ तो सहनशीलता सहिष्णुता से है। प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी क्षमा, समता का भाव धारण करना क्षमा धर्म है। मार्दव धर्म मृदुता का प्रतीक है। धन, पद, ज्ञान, बल, वैभव आदि को पाकर भी अहंकार नहीं करना तथा विनम्रता का व्यवहार करना मार्दव धर्म है। जो मन में है वही वाणी और कर्म में निष्कपट भाव से आचरित हो, इसी भीतर बाहर की एक जैसी परिणति को आर्जव धर्म कहा है। शौच धर्म पवित्रता का प्रतीक है, जिसमें शारीरिक शुद्धि के साथ–साथ संतोष रूप जल से लोभ कषाय की निवृत्ति कर आत्मशुद्धि की जाती है। पांचवा धर्म सत्य का है, जिसमें परम सत्य को पाने के लिये हित मित प्रिय वचनों का व्यवहार किया जाता है। संयम के धर्म में मन और इन्द्रियों के विषयों से विरत आत्म–नियंत्रण की शिक्षा ली जाती है। प्राणि रक्षा वाली परम अहिंसक चर्या इस धर्म में अपनाना पड़ती है। तप का धर्म आत्मशोधन के लिये परम रसायन है। तपकर जैसे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही कर्म कालिमा हटने से आत्मा निर्मल हो जाती है। अंतरंग और बहिरंग के भेद से १२ प्रकार के तप मुक्ति के साधन माने गये हैं। त्याग प्रकृति प्रदत्त नैसर्गिक प्रक्रिया है। वृक्ष में पत्ते आते हैं, फल लगते हैं और झर जाते हैं। प्राणी जो श्वांस लेता है उसे छोड़ना ही पड़ता है। राग के वशीभूत किये गये संचित द्रव्य का चतुर्विध दान में लगाना त्याग धर्म है। इसके बाद आने वाला आकिञ्चन्य धर्म हमें एकदम निर्विकल्प रखना चाहता है। मैं, मेरा और तू, तेरा की सूक्ष्म विकल्प धारा से भी इसमें मुक्त होना पड़ता है क्योंकि त्याग के बाद भी मन की यह विकल्पधारा आत्मलीनता में बाधक बनती है। इस धर्म के आते ही परमब्रह्म में रमण की स्थिति आती है। देह के अशुचि स्वभाव को समझते हुये विषय वासना विरक्त आत्मरमणता का नाम ही ब्रह्मचर्य है।

प्रकृति भी हमें दशलक्षण वाले नैसर्गिक जीवन को अपनाने का संदेश देती है। बीज से वृक्ष तक की यात्रा में यह धर्म का जीवन अवतरित होते दिखता है। क्षमाशीला मूक सहिष्णु मां धरती की गोद में जब विनम्रता का बीज गिरता है, अपने कठोर कवच को गला कर खुद को मिटाकर माटी में मिलता है तब फूटने वाले सीधे सरल अंकुर स्वच्छता के गीत गाते आगे बढ़ते हैं। सत्य के असीम आकाश का अनुभव पाने वाले उन पौधों को जीवन रक्षा हेतु संयम का बंधन डालना ही पड़ता है। सूरज के प्रखर तप ताप में तपे परिपक्व फलों का जब दान होता है तब त्याग की मूर्ति बना वह वृक्ष आकिञ्चन्य अकेला खड़ा हुआ उस योगी सा प्रतीत होता है जो स्थित प्रज्ञ परम ब्रह्म में तल्लीन हो गया है। बीज से वृक्ष तक की इस जीवन–यात्रा में हमें जो बोध मिला है मैं समझता हूं वह अपने आत्म धर्म का समूचा सार संदेश है। क्षमा से ब्रह्मोपलब्धि तक का यह ऊर्ध्वारोही उपक्रम हमारी आध्यात्मिक ऊर्जा का पूर्ण प्रगटीकरण है। ऐसे इस पर्वराज पर्यूषण को सिर्फ पारम्परिक पर्व ही नहीं मानना चाहिये बल्कि इसे तो सत् संस्कार देने वाली दशदिनी पाठशाला ही मानना चाहिये। इसे एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला भी कहा जा सकता है जिसमें हम स्वयं पर रिसर्च करते हैं, स्वयं का अन्वेषण, स्वयं की खोज करते हैं। यही एक ऐसा अवसर है जिसमें हम दशधर्म के रसायन से आत्म–तत्त्व का शोधन करते हैं इसलिये इन पर्वों से हम औपचारिक नहीं किन्तु वास्तविकता से जुड़ें। पर्व से जुड़े हुये आयोजनों के प्रयोजन को भी यदि हम आत्मसात करें तो अंदर कुछ नूतन कुछ नया अतिशय आनन्द घटित हो सकता है।

पारम्परिक रूप में इन दिनों अधिकांश (सभी नहीं) जैनी बंधु एकासन या उपवास करते हैं। हरे फल, सब्जियों का

त्याग कर मौन से शुद्ध भोजन करते हैं। बाल नहीं बनवाते हैं, व्यवसाय आदि में हिंसक सामग्री का उपयोग नहीं करते हैं। प्रतिदिन एक एक धर्म या सम्मिलित रूप में दशधर्मों की पूजा करते हैं। स्वाध्याय, सामायिक, संयम में अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं। रात्रि में धर्म– परम्पराओं से जुड़े हुए सांस्कृतिक कार्यक्रम रखे जाते हैं। स्थानीय या बाहर से आमंत्रित किसी विद्वान अथवा त्यागीव्रती, साधुजनों के प्रवचन होते हैं। प्रतिदिन तत्त्वार्थ सूत्र के एक–एक अध्याय का अर्थ सहित वाचन भी यथासंभव किया जाता है। आखरी दिन रथयात्रा या जुलूस निकालकर जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक पूजन किया जाता है। इस तरह से भाद्रपक्ष में आने वाले इस पर्यूषण पर्व को अत्यधिक प्रभावना से सम्पन्न किया जाता है।

❑

❑ **कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।**
माया मित्ताणि नासेइ, लोहोसव्व विणासणो।।(स.सु.)

अर्थः– क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट करता है।

❑ **उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।**
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।(स.सु.)

अर्थः– क्षमा से क्रोध का हनन करें, मार्दव से मान को जीतें, आर्जव से माया को और संतोष से लोभ को जीतें।

❑ **गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः।**
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसम्।।(ज्ञानार्णव)

अर्थः– जिसका मन क्रोधादिक के कारणों के उपस्थित होने पर भी क्षुब्ध नहीं होता है वह गुणों की अधिकता के योग से योगी और गुणी जनों का गुरु है ऐसा मैं मानता हूं।

क्षमा

❑ **कोहुप्पत्तिस्स पुणो, बहिरंग जदि हवेदि सक्खादं।**
ण कुणदि किंचि वि कोहं, तस्स खमा होदि धम्मोत्ति।।(बा.अणु)

अर्थः— क्रोध उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता उसके क्षमाधर्म होता है।

❑ **जहिं आकोसण वयण सहिज्जइ,**
जहिं पर दोसु ण जणि भासिज्जइ।
जहिं चेयण—गुणचित्त धरिज्जइ,
तहिं उत्तम खम जिणे कहिज्जइ।।(प्रा.पूजा.)

अर्थः— जिसमें आक्रोश युक्त वचनों को सहा जाता है, जिसमें दूसरों के दोषों को नहीं कहा जाता है, जिसमें आत्मा के गुणों को चित्त में धारण किया जाता है, उसके लिए उत्तमक्षमा धर्म जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

❑ **प्रतिशोध समर्थोऽपि यः आत्मभाव स्वभावतः।**
क्षमिस्यन्ति स्वपरान् सा उत्तम क्षमा भवेत्।।

अर्थः— प्रतिशोध शक्ति के होते हुये भी जो आत्मा के सहज स्वभाव से स्वपर को क्षमा करता है उसको उत्तम क्षमा है।

❑ **क्रोधाद् भवन्ति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।**
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धि नाशात्प्रणस्यति।।(भा.गीता)

अर्थः— क्रोध से मूढ़ता, मूढ़ता से स्मृतिभ्रान्त, स्मृतिभ्रान्त से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से व्यक्ति का नाश हो जाता है।

❑ **तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च ।**
क्षामयन्ति न क्षमयतां ये ते दीर्घा जवञ्जवाः।।(सा.धर्मा.)

अर्थः— जो पुरुष अपने विराधकों को क्षमा करते हैं और दूसरों से अपने अपराधों की क्षमा याचना करते हैं वे ही भव्य मानव, संसार—समुद्र से पार हो जाते हैं परन्तु जो क्षमा मांगने पर भी क्षमा नहीं करते हैं, अपने कालुस्य भाव को नहीं छोड़ते हैं वे दीर्घ संसारी होते हैं।

❑ उत्तमे तु–क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम्।
अधमे स्यादहोरात्रं चाण्डालो मरणान्तकः।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– उत्तम पुरुष में क्रोध क्षणभर के लिए होता है, मध्यम पुरुष में दो घड़ी के लिए, अधम पुरुष में दिन रात के लिए होता है और चाण्डाल में मरणान्तक होता है।

❑ अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातेः,
संधुक्षितः परुषवाग्गुरुविस्फुलिंगः।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थित वैर धूमः,
क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवनं नराणाम्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– जो अज्ञान रूपी काष्ठ से उत्पन्न हुई है, अमानरूपी वायु के द्वारा संधुक्षित है – धौंकी गई है, कर्कश वचन रूपी तिलंगों से सहित है और हिंसा रूपी ज्वाला से युक्त होने पर भी जिससे अत्यधिक वैररूपी धुआं उठ रहा है ऐसी क्रोधरूपी अग्नि मनुष्यों के धर्मरूपी वन को जला देती है।

❑ आददानो यथा लोहं परदाहाय कोपतः।
स्वयं प्रदह्यते पूर्वं परदाहे विकल्पनम्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– क्रोध से दूसरे को जलाने के लिए गर्म लोहे को उठाने वाला मनुष्य पहले स्वयं जलता है पश्चात् दूसरा मनुष्य जले भी अथवा नहीं भी जले।

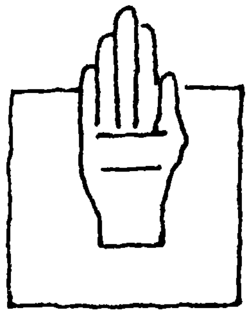
❑ सिलपुढ़विभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।(जी.का.)

अर्थः– पत्थर की रेखा के समान, पृथ्वी की रेखा के समान, धूलि रेखा के समान और जलरेखा के समान क्रोध चार प्रकार का होता है।

❑ पूजा कोटि समं स्तोत्रं स्तोत्र कोटि समं जपः।
जपकोटि समं ध्यानं ध्यान कोटि समं क्षमः ।।(नी.श्लो.)

अर्थः– करोड़ पूजाओं के बराबर एक स्तोत्र है, करोड़ स्तोत्रों के बराबर एक जप है, करोड़ जप के बराबर एक ध्यान है और करोड़ बार किये गये ध्यान के बराबर एक बार की गई क्षमा है। ❑

उत्तम क्षमा



पर्वराज पर्यूषण का आज पहला दिन है और वह भी क्षमा का दिन। धर्म–पर्व की यह दश–दिनी यात्रा क्षमा से शुरु होकर ब्रह्मलीनता तक जाती है तथा अन्तिम दिन क्षमावाणी का रूप लेकर पूर्ण होती है। इस तरह की समायोजना का आशय यह है कि जिस क्षमा–भाव को व्यक्तिगत जीवन में धारण किया था वही क्षमा विस्तार पाकर सामूहिक क्षमापना के रूप में सामाजिक स्तर पर पहुंच जाती है। जिसमें जाने अनजाने में हुई भूल या अपराधों को दूसरों के प्रति क्षमा करके और स्वयं क्षमा मांगकर व्यक्ति से समष्टि में अहिंसा अभय के आनन्द रस को सरसाया जाता है।

क्षमा के इस धर्म को समझने के लिए सबसे पहले हमें इसके विरोधी तत्त्व को समझना होगा। क्षमा का विरोधी तत्त्व है क्रोध। क्रोध एक कषाय है जो हमें अपने आत्म स्वभाव से च्युत कराती है तथा जीवन को दुखदाई बना देती है। क्रोध के लिए अग्नि और अंधे व्यक्ति की उपमा दी गई है। जैसे अंधे व्यक्ति को कुछ भी दिखाई नहीं देता ठीक वैसे ही क्रोध की स्थिति में व्यक्ति के हिताहित का विवेक खो जाता है। अग्नि जैसे अपनी लपटों से आसपास की वस्तुओं को तो जलाती ही है किन्तु उस लकड़ी को भी जलाती है जिसमें वह लगी हुई है। इसी तरह क्रोध का दुष्परिणाम परिवार और आसपास के लोग तो भोगते ही हैं क्रोध करने वाला व्यक्ति स्वयं भी भोगता है। असल में अहं पर चोट

लगते ही क्रोध भड़क जाता है ऐसी स्थिति में वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। यदि उस समय वह कुछ न कर पाये तो बदला लेने की फिराक में रहता है और यदि बदला न ले पाये तो उसका वह बदले का भाव बैर बनकर भव भवान्तर में भी नहीं छूट पाता। इस क्रोध कषाय पर विजय पाने वाले महापुरुष ही सच्चे वीर माने गये हैं। प्रतिकार करने की सामर्थ्य रहते हुये भी अज्ञानी दुष्ट दुर्जन पुरुषों द्वारा किये गये दुर्व्यवहार के प्रति क्षमा कर देना उत्तम क्षमा मानी गई है। **"क्षमा वीरस्य भूषणम्"** इसे वीरों का भूषण कहा गया है। सहनशीलता, समता, शांति, सहिष्णुता और संतुलन का परिचय देना ही इस क्षमा धर्म का सार है।

क्या कभी हमने विचार किया है कि आखिरकार क्रोध आता क्यों है ? जब सभी जानते हैं कि क्रोध अच्छी चीज नहीं है इससे बचने में ही भलाई है, तब फिर जानते हुये भी यह प्राणी क्रोध क्यों करता है ? इस तरह का विचार करने पर जो कारण ज्ञात हुये वह इस प्रकार हैं –

(१) इच्छापूर्ति में बाधा पड़ने से
(२) मानसिक अस्तव्यस्तता से
(३) शारीरिक अस्वस्थता से
(४) तामसिक भोजन और मौसम आदि के प्रभाव से

ये ऐसे कारण हैं जिनके उपस्थित होने से व्यक्ति को क्रोध आता है। सास चाहती थी कि बहू खूब दहेज लाये और खूब काम करने वाली हो, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अब बात बिगड़ेगी। पापा जी चाहते थे कि मेरा बेटा ८० परसेन्ट मार्क्स लाये पर बेटा ७० परसेन्ट ही ला पाया तो फिर हो गई किसी न किसी रूप में क्रोध की शुरुआत। सीधी सी बात है हम जो चाहते हैं, जैसा चाहते हैं, जब चाहते हैं, जिससे चाहते हैं उसमें बाधा पड़ना, वैसा नहीं होना हमारे क्रोधोत्पत्ति का मुख्य कारण है। व्यक्ति का चित्त

कहीं उलझा हुआ हो, अस्त व्यस्त सा हो रहा हो वह, ऐसे समय में यदि कोई उसे उपदेश और देने लगे तो स्वाभाविक रूप से उसका क्रोध भड़क जायेगा। बात बात मे झुंझलाहट आती है।

शारीरिक अस्वस्थता, तामसिक भोजन और गर्म मौसम आदि का प्रभाव भी क्रोधोत्पत्ति के कारण माने गये हैं। इस क्रोध को जीतने के कुछ उपाय भी हैं, जैसे कि हम स्थिति की सही–सही समीक्षा करें कि हमारी या दूसरों की इसमें कितनी–कितनी गल्ती है। अपने दायित्व का बोध हो, थोड़ी देर के लिये स्थान परिवर्तन कर लेना तथा चुप रह जाना आदि क्रोध के प्रसंगों को टालने के उपाय हैं। इस तरह यदि हम करते हैं तो सहज ही क्रोध को जीता जा सकता है।

पंजाब केसरी महाराजा रणजीत सिंह की एक बार सवारी निकल रही थी। बडी सुरक्षा व्यवस्था के साथ वह आगे बढ रहे थे। अचानक एक पत्थर कहीं से आकर उनके सिर में लगा, पत्थर तेजी से लगा, रक्त बहने लगा। अंगरक्षकों ने दौडकर एक बालक को पकड़ा और महाराजा के सामने पेश किया, उसकी तरफ देखकर महाराजा ने आदेश दिया कि इसे दरबार में हाजिर करना। सभी के मन में सजा को लेकर तरह–तरह के विचार उठ रहे थे। अगले दिन दरबार में बालक लाया गया। राजा साहब ने पूछना शुरु किया – क्यों ? तुमने पत्थर मारा था, हा....राजन् ! जो पत्थर आपको लगा वह मैंने ही मारा था। तुमने क्यों मारा ? राजन् मैंने पत्थर आपको नहीं मारा था, पत्थर आपको लग गया यह मेरा अपराध है। तो तुम पत्थर किसको मार रहे थे ? मैं भूखा था, कुछ खाने का इन्तजाम नहीं था इसलिए पत्थर से आम गिरा रहा था किन्तु वह पत्थर धोखे से आपको लग गया मेरा अपराध क्षमा हो। सभा में सभी जन विशेष दण्ड की बात सोच रहे थे किन्तु हुआ कुछ और ही। राजा ने उस छोटे बालक को बड़े प्यार से देखते

हुय आदेश दिया – मंत्री जी ! इस बेटे को पहले भरपेट भोजन कराओ और इसके परिवार जनों को आवश्यक सामग्री सहित आजीविका हेतु कुछ जमीन दी जाये। विचित्र आदेश सुनकर सभी जन हतप्रभ रह गये। सभा में किसी ने कहा राजन् ! इसने आपका इतना बड़ा अपराध किया इसे तो प्राण दण्ड दिया जाय तो भी कम है। इतना सुनते ही महाराजा रणजीत सिंह बोले। अरे ! एक साधारण से वृक्ष को पत्थर मारने पर वह फल देता है तब फिर मैं तो यहां का ...। इतना सुनते ही सभा में महाराजा रणजीत सिंह की जय जयकार हो गई। किसी कवि ने कहा है –

"मारना है गर किसी को मार दो अहसान से,
क्या मिलेगा गर किसी को मार दोगे जान से।
जान से मारा गया वापस कभी आता नहीं,
अहसान का मारा हुआ, फिर सर उठा सकता नहीं"।।

इस तरह से पावन पर्यूषण का यह पहला दिवस हमें क्षमा भाव धारण करने की प्रेरणा देता है। जिसने भी इस धर्म को जीवन में अपनाया है उसने अपनी आत्म शक्ति का विकास किया है। २३ वे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान का जीवन अतीत के दशभवों से इसी आत्मिक क्षमा धर्म की ऊर्जा को अर्जित करता रहा था। उसी के फलस्वरूप अन्तिम भव में तीर्थंकर बनकर असंख्यात जीवो का कल्याणकर उन्होंने परम शांति रूप मुक्ति धाम को पाया। क्षमाधारी यशोधर मुनिराज और राजा श्रेणिक का प्रसंग तो सभी को मालूम है। यह श्रेष्ठ सहनशीलता का धर्म हमारे जीवन में आये ताकि क्रोध, बैर बुराइयां हमारे आत्म स्वभाव को न ढक सकें। ❑

❑ **नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।**
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा।।(नी.श्लो.)

अर्थः– मनुष्य का आभूषण रूप है, रूप का आभूषण गुण है, गुण का आभूष्ण ज्ञान है और ज्ञान का आभूषण क्षमा है।

मार्दव

❑ **कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।**
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दव धम्मं हवे तस्स।।(बा.अणु.)

अर्थः– जो श्रमण (मनुष्य) कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है।

❑ **जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं मानतिर्हरणम्।।(स.सि.)**

अर्थः– जाति आदि मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव धर्म है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

❑ **सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो। (जी.का.)**

अर्थः– पत्थर के समान, हड्डी के समान, काठ के समान, तथा वेंत के समान मान चार प्रकार का होता है।

❑ **स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान गर्विताशयः।**
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।।(रत्न.श्रा.)

अर्थः– जो अहंकार पूर्ण आशय वाला होता हुआ गर्व से अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।

❑ **मानदावाग्नि दग्धेषु मदोषरकषायिषु।**
नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङ्.कुराः।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– मानरूपी दावानल से जले एवं मदरूपी ऊसर क्षार मिट्टी से युक्त मनुष्य रूपी वृक्षों में समीचीन छाया के योग्य अङ.कुर उत्पन्न नहीं होते।

❑ **वीणेव श्रोतहीनस्य लोलाक्षीव विचक्षुणः।**
व्यसो कुसुममालेव विद्या स्तब्धस्य निष्फलाः।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— जिस प्रकार बधिर मनुष्य के सामने वीणा, अन्ध मनुष्य के सामने चपललोचना स्त्री और मृत मनुष्य के ऊपर डाली गई पुष्प माला व्यर्थ है उसी प्रकार अभिमानी मनुष्य की विद्या निष्फल है।

❑ **नमन्ति फलिनो वृक्षः नमन्ति गुणिनो जनः।**
शुष्क वृक्षाश्च मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन।।(नी.श्लो.)

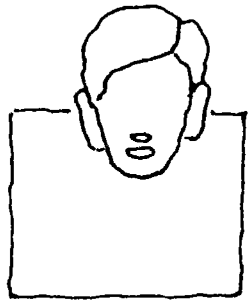
अर्थः— फलदार वृक्ष और गुणी जन नमते (झुकते) हैं किन्तु सूखे वृक्ष और मूर्खजन कभी भी नहीं झुकते।

❑ **अविनीतस्य या विद्या सा चिरं नैव तिष्ठति।**
मर्कटस्य गले बद्धा मल्लीनां मालिका यथा।।(नी.श्लो.)

अर्थः— अविनीत मनुष्य की जो विद्या है वह बन्दर के गले में निबद्ध मालती की माला के समान चिरकाल तक नहीं ठहरती है।

❑

उत्तम मार्दव



आज उत्तम मार्दव धर्म का दिन है। मृदुता का भाव मार्दव कहलाता है। मनुष्य की वृत्ति में, विचारों में जो सहज कोमलता नम्रता रहती है उसे ही मनीषियों ने मार्दव धर्म की संज्ञा दी है। इस धर्म का प्रबल शत्रु मान है इसे अहंकार, घमंड, मद या अभिमान भी कहते हैं। आज अहंकार मनुष्य के रग–रग में समाया हुआ है। उसकी वाणी में, उसकी चाल–ढाल में कही न कहीं से अहंकार की गंध आती ही रहती है। जिसकी वज़ह से व्यक्ति अपने आपको सबसे बडा समझता है और दूसरो को हमेशा नीचे दिखाने की कोशिश करता है। दूसरों के अस्तित्व को वह समझता ही नहीं है। इस मृदुता के धर्म को आत्मसात् करने के लिये हमें कहीं न कहीं झुकना ही पडेगा। बिना झुके जैसे कुए में पडी बाल्टी में भी पानी नहीं आता तो फिर बिना झुके, नम्र हुए हमे कैसे आत्म तत्त्व की प्राप्ति होगी। फल फूलों से लदी हुई वृक्ष की शाखायें जैसे सहज ही झुक जाती हैं ठीक वैसे ही गुणों के भार से युक्त आत्मा सहज ही विनम्र हो जाती है, झुक जाती है। अहंकार के मद से चूर हुआ प्राणी अपने आपको सबसे बड़ा मानता है। दूसरे के अस्तित्व को वह कुछ समझता ही नहीं। किसी महापुरुष के चरणों में बैठकर विनम्रता से कुछ सीखने मे वह अपना अपमान समझता है। रावण जैसे अभिमानियों की यही अकड़ ही उनके समूचे जीवन का विनाश कर देती है। **सच ही है**

कि अभिमान से बनी हुई हर इन्सान की सोने की लंका अंततः धूल में मिल जाती है। विनम्रता में जीवन है, जीवन का बचाव है। आपने देखा होगा—बरसात के दिनों में नदी में तेज बाढ़ आने पर बेंत के पेड़ झुक जाते हैं, पानी उनके ऊपर से निकल जाता है किन्तु उस बाढ़ मे बडे—बड़े पेड़ अकडे हुये खड़े रहते परिणामस्वरूप उन्हें जड से उखड जाना पड़ता है। यह अकड कहें या अहंकार, अभिमान हमारे जीवन मे तरह—तरह से आता है। जिनमें से मुख्य बातें आठ हैं। जिनके आश्रय से व्यक्ति अहंकार करता है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार ग्रन्थ मे कहा है –

ज्ञानं पूजां कुलंजातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं स्मयमाहुः गतस्मयाः।।

मै बहुत शक्ति सम्पन्न हूं, मुझ जैसा सुन्दर रूप धरती पर किसी का नहीं है, मेरी बडी ख्याति बडी प्रतिष्ठा है, मेरे कुल वंश के बारे में क्या कहना ? मेरी तपस्या की शानी नहीं, मेरे ज्ञान के सामने लगता कौन है आदि भाव हमारे अन्दर रहने वाले अहंकार को झलकाते हैं। इस तरह से धन पद यश रूप बल कुल तप और ज्ञान आदि के आश्रय से अहंकार किया जाता है। इनको लेकर जो वाहवाही प्रशंसा मिलती है, लोक में उसी से मानी प्राणी को रस आता है। वह इन्हीं के माध्यम से दूसरों को नीचा दिखाना चाहता है। नीचा दिखाने के लिये तरह—तरह के उपाय करता है और अपने मान कषाय का पोषण करता है। पर वह यह नहीं समझता कि यह जो कुछ भी मिला है स्थायी नहीं है, एक न एक दिन चला जाने वाला है। ज्ञानी पुरुष इनको पाकर गर्व नहीं करता है तथा अपने विचार और व्यवहार को आत्मोपलब्धि हेतु विनम्र बनाता है।

एक बार ऐसा हुआ कि पिताजी अपने बेटे की अंगुली पकड़े कहीं जा रहे थे। रास्ते में बेटे ने कहा पापा पानी...प्यास लगी है। पिताजी बोले – बेटा जरा आगे चलो, वो जो बड़ी हवेली दिख रही है वहां पानी मिल जायेगा। धीरे–धीरे चलकर वह हवेली आ गई। तब तक बेटे की प्यास भी बढ़ गई। पुनः उसने कहा पापा पानी,... चलो वो देखो सेठजी बैठे दिख रहे हैं। यहां पानी का जरूर इन्तजाम होगा। पानी मटके में भरा हुआ दिख गया। बड़ी आशा से आगे बढ़े। अनाप शनाप सम्पदा, नौकर–चाकर गाड़ी वाहनों के रूप में वैभव दिख ही रहा था। पिता पुत्र आगे बढ़े पर देखने के बाद भी सेठ जी के चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सामने पहुंचकर पिताजी ने कहा–सेठ जी बेटे को प्यास लगी है, जरा पानी पिला दो। सेठजी ने अपनी आंखों पर लगे ऐनक के ऊपरी भाग से बड़े गौर से देखते हुये कहा "अभी आदमी नहीं है," आदमी को आने दो। वह दोनों इन्तजार करने लगे। व्यवस्था वहां की कुछ ऐसी ही थी कि कोई अपने हाथ से पानी ले भी नहीं सकता था। थोडा और समय निकला, बेटे ने फिर कहा पापा पानी। मांगने पर सेठजी ने फिर वही रूखेपन से जवाब दिया– कह दिया ना, जरा रुको, अभी आदमी नहीं है, आदमी को आने दो और सेठजी अपने काम में लग गये। फिर इन्तजार किया गया। पर क्या करें ? बेटा तो बेटा ही था। पुनः पानी मांगने पर जब सेठजी ने वही जवाब दिया तो इन महोदय से भी नहीं रहा गया और बडे शालीन तरीके से वह बोलते हैं **"तो थोड़ी देर के लिये फिर आप ही आदमी बन जाइये"।** पता नहीं इसके बाद सेठजी का क्या हुआ होगा पर हमें तो इस प्रसंग से व्यक्ति के व्यवहार का बहुत बड़ा बोध मिलता है। इसलिये तो कहा गया है

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
यह खाये बौराय नर वह पाये बौराय।।

आज धन वैभव के अहंकार ने हमारी आंखों पर ऐसा पर्दा डाल रखा है जिससे मानव, मानव को नहीं पहचान पा रहा है। लगता है शायद इस नशे में उसकी अन्दर की मानवीय संवेदना मृतप्राय हो चुकी है। उसे मालूम नहीं कि अहं की चट्टान पर खड़े होकर भले ही वह दुनियां को ऊँचा दिख जाये पर उस चट्टान के खिसकते ही वह धडाम से नीचे आ जाता है। धन वैभव से भले ही कोई दुनिया में बड़ा आदमी बन जाये पर भला आदमी तो वह धर्म से, विनम्रता से ही बनेगा।

❑

❑ **गुरु ज्ञानी गुरु पारखी गुरु उदार गम्भीर।**
रहस्य उद्घाटक गुरु, गुरु प्रभु की तस्वीर।।१।।

बादल बन बरसे सदा गुरुवर कृपा विशाल।
दल दल मन का सब धुले हो शुचि समकित भाल।।२।।

आर्जव

❑ **योगस्यावक्रता आर्जवम् ।(स.सि.)**

अर्थः— योगों का वक्र न होना आर्जव है।

❑ **जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं।**
ण य गोवदि णिय दोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स।।(बा.अणु.)

अर्थः— जो कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, तथा कुटिल वचन नहीं बोलता तथा अपने दोष नहीं छिपाता, उसके आर्जव धर्म होता है।

❑ **कुशलजननवन्ध्या सत्यसूर्यास्तसंध्या,**
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम्।
शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं,
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— जो कुशल क्षेम उत्पन्न करने के लिए वन्ध्या है। सत्य रूपी सूर्य को अस्त करने के लिए संध्या है। कुगति रूप स्त्री का स्वागत करने के लिए माला है, मोहरूपी हाथी की शाला है, प्रशम भावरूपी कमल को नष्ट करने के लिये हिमानी–तुषारपात है, अपयश की राजधानी है और सैकड़ों कष्टों की सहायक है उस माया को दूर से छोड़ो।

❑ **वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे। (जी.का.)**

अर्थ :— बांस की जड के समान, मेढे के सींग के समान, गोमूत्र के समान और खुरपा के समान यह माया (वक्रता) चार प्रकार की होती है।

❑ **बकवृत्तिं समालम्ब्य वञ्चकैर्वञ्चितं जगत्।**
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः।।(ज्ञानार्णव)

अर्थ :– मायाचारी में कुशल, मलिन अभिप्राय वाले, पापी ठगों के द्वारा यह प्रसन्न स्वच्छ जगत बगुला जैसी वृत्ति का अवलम्बन लेकर ठगा गया है।

❑ **माया तैर्यग्योनस्य। (त.सू. ६–१६)**

अर्थ:– मायाचारी से तिर्यञ्च आयु का आस्रव होता है।

❑ **मायामविश्वासविलासमन्दिरं,**
दुराशयो यः कुरुते धनाशया।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते
यथा विडालो लकुटं पयः पिबत्।।(ज्ञानार्णव)

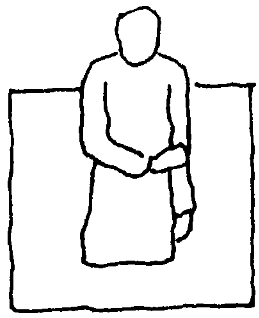
अर्थ:– दुष्ट अभिप्राय वाला जो मनुष्य धन की आशा से अविश्वास के कुल भवन स्वरूप माया को करता है वह प्राप्त होने वाले अनर्थ समूह को इस तरह नहीं देखता है जिस तरह कि दूध पीने वाला बिलाव दण्ड प्रहार को नहीं देखता है।

❑ **कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम्।**
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम्।।(ज्ञानार्णव)

अर्थ:– मायाचारी मनुष्यों का आचरण कूटद्रव्य (बाजीगर द्वारा दिखलायी जाने वाली बनावटी अंगूठी आदि वस्तु) के समान निःसार और स्वप्न में प्राप्त हुए राज्य वैभव के समान निष्फल होता है, ऐसा मैं मानता हूं।

❑

उत्तम आर्जव



आज धर्म का तीसरा दिन है। यह तीसरा दिन आर्जव धर्म का दिन है। ऋजुता का भाव आर्जव कहलाता है। मन, वचन, काय से सरल सीधा होने का दिन है आज। पर्यूषण के पहले दिन क्षमा की बात सीखी थी। दूसरे दिन अहंकार का त्याग कर विनम्रता का पाठ पढा था, पर आज तो मुझे ये कहना है कि छल कपट से की गई क्षमा और मृदुता का व्यवहार भी धर्म नहीं कहला सकता।

आर्जव धर्म हमें मन–वचन–काय से एकदम निश्छल निष्कपट होने की शिक्षा देता है। बालक जैसी सहजता, सरलता का आना इस धर्म का सार है। बालक को देखा आपने – उससे जो भी, जैसा भी, अच्छा बुरा हो जाता है, घर आकर वह मां से ज्यों का त्यों बतला देता है, कुछ भी छुपाता नहीं है। वह यह भी विचार नहीं करता कि इससे मां प्रसन्न होगी या नाराज। इसी निष्कपट वृत्ति से साधु को भी बालक की उपमा दी जाती है। ज्ञान की अपेक्षा से साधु को बालक नहीं कहा गया किन्तु निश्छलता, निर्विकारता, सरलता की अपेक्षा साधु को बालकवत् कहा गया है। हुआ ऐसा एक बार – पापाजी ने बेटे से कहा, यहीं बैठना, मैं अंदर हूं और यदि कोई पूछने आये तो कह देना कि पापाजी घर पर नहीं हैं। बेटा तो बेटा ही था, कोई पूछने आया तो उसने अपने भोलेपन में ठीक वैसा ही कह दिया कि "पापाजी ने कहा है, कि

कोई पूछने आये तो कह देना कि पापाजी घर पर नहीं हैं।" अब यह वृत्ति एकदम निश्छल है, साफ है। इसका सम्बन्ध मन से, मन की कुटिलता से बिल्कुल भी नहीं है। जैसे–जैसे हमारे मन का विकास होता है प्रवृत्ति में छलकपट मायाचार जुड़ता जाता है। फिर हम रहते कुछ हैं, कहते कुछ है और करते कुछ हैं। हमारे मन, वाणी और कर्म में एकरूपता नही रहती। यही मन, वाणी और कर्म की विषमता हमें आर्जव धर्म से दूर कराती है। आर्जव धर्म के बारे में कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में एक गाथा आती है –

जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं।
णय गोवदि णियदोसं अज्जव धम्मो हवे तस्स।।

जो मन से कुटिल चिंतन नहीं करता, कुटिलतापूर्वक बोलता नहीं है, न ही कुटिलता के कार्य करता है, और जो अपने दोषों को भी नहीं छिपाता, उसी को आर्जव धर्म होता है। "**मन में हो सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सो करिये**" बड़ा कठिन काम है यह–इन पंक्तियों का आशय यह कदापि नहीं लेना कि हमारे मन में जो आये उसे ही हम कहने लगें और वैसा ही हम करने भी लगें। तो इससे तो और भी घाटा हो जायेगा। अब यदि किसी के मन मे मरने मारने का भाव आ गया और वह गुस्से में मुंह से निकल गया तो फिर ? और यदि कार्यरूप परिणत कर दिया तो. ..? इसलिए यदि ऐसे विचार आ भी जाए तो उन्हें तुरन्त मन से हटा देना चाहिए। इसका आशय यह है कि मन–वचन–काय की एकरूपता हमारे अच्छे कार्यों की हो। और इन सबमें सबसे बड़ा कठिन काम तो है कि अपने दोषों को नहीं छिपाना। आज हर व्यक्ति अपने आपको दूध का धुला हुआ मानता है भले ही वह कोयले की खदान में रहता हो। अपना आत्म–निरीक्षण करके कमी को स्वीकारना सबसे बडा कठिन काम है। इतना ध्यान रहे कि अपने दोषों का उदघाटन भी हर किसी के सामने नहीं करना

चाहिए। जो हमारे मार्गदर्शक हैं, हितैषी हैं अपने से बडे, गहन गम्भीर और शास्त्रवेत्ता गुरु आचार्य हैं उन्हीं के सामने अपनी आलोचना कर आत्म–शुद्धि की जाती है।

संसारी प्राणी का जीवन माया की मूर्ति बना हुआ है। बहरूपियापना तो इसका स्वभाव सा बन गया है। असलियत का पता लगाना काफी कठिन हो चुका है। माया के मुखौटों से हम इतने सज गये हैं कि वास्तविक चेहरा हमारा कैसा है, पता ही नहीं लग पा रहा है। व्यापार की भाषा में, रिश्तेदारी, संबंधों में और अतिथियों तथा अड़ोस–पड़ोस में बसने वालों के प्रति हम किस किस तरह मायाचारी से पेश आते हैं भगवान ही जानते हैं या फिर हमारा खुद का मन जानता है और मजे की बात तो ये है कि इस तरह करने में ही हमें आनन्द आता है। सीधे में नहीं, टेढे मेढे चलने में ज्यादा रस आता है। सड़क पर अपनी गाडी यदि लहराते हुये न चले तो फिर गाडी चलाने का मजा ही क्या ? गाडी का आनन्द तो उसे लहराकर चलाने में ही आता है।
पंक्तियां हैं –

वे कौन हैं,
जो टेढ़े मेढ़े रास्तों पर भी,
सीधा चला करते हैं
गजब तो
ये है कि
लोग
सीधे साधे रास्तों पर भी
टेढ़ा चला करते हैं।।

पर ध्यान रखो बंधुओ। सर्प बाहर कितना ही लहराकर चले किन्तु बिल में प्रवेश करने उसे सीधा होना ही पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि अपने आत्मगृह में प्रवेश पाने के लिये यह आर्जव धर्म

अत्यन्त जरूरी है। साइकिल का हैंडिल थोडा भी टेढ़ा रहे साइकिल चल नहीं पाती। फ्रेक्चर हो जाए, हड्डी टूट जाए, मुड जाए तो बहुत तकलीफ, बहुत वेदना होती है। पुनः उसे सीधा करने में काफी समय लगता है। एक छोटी सी लोहे की छड़ को सीधा करने में जब लोहार को उसे गर्म करना, घन से पिटाई आदि करने रूप इतना श्रम करना पड़ता है तो फिर अनादिकालीन माया के इन कुटिल संस्कारों को छोड़ने में हमें कितना श्रम कितना पुरुषार्थ नहीं करना पड़ेगा। पूजा में कहा है --

करिये सरल तिहुजोग अपने देख निर्मल आरसी।
मुख करे जैसा, लखै तैसा कपट – प्रीति अंगार सी।।

दर्पण साफ सुथरा है इसलिए उसमें प्रतिबिम्ब झलकाने की क्षमता है। ऐसे ही साफ सुथरी आत्मा में परमात्मा का प्रतिबिम्ब झलकेगा। मायाजालों में उलझी आत्मा में यह कदापि सम्भव नहीं। संसार में तो यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो जैसा करता है, वैसा पाता है। अब कोई अपना मुंह टेढा करे और अपेक्षा रखे कि दर्पण में सीधा सुन्दर चेहरा दिखे तो यह कैसे सम्भव हो सकता है? आप टेढा काम करोगे टेढाफल पाओगे। स्वच्छ चेहरा होगा, स्वच्छ छवि दिखेगी।

हिन्दू समाज में कृष्ण सुदामा की कहानी आती है, गुरुकुल में पढ़ने वाले कृष्ण–सुदामा बालसखा थे। सुदामा बडे थे, कृष्ण छोटे थे। जंगल में गायें चराते समय एक बार सुदामा ने कृष्ण के पूछने पर मना कर दिया कि गुर्वानी माता ने कुछ रखा है खाने को। मेरे दांत तो ठण्ड से किटकिटा रहे है। परिणामस्वरूप सुदामा अपने जीवन–काल में अत्यंत दरिद्र हो गये और श्रीकृष्ण तो तीन खण्ड के स्वामी नारायण बने ही। इसलिए कहा गया है कि कपट प्रीति अंगार सी। कपटपूर्ण मैत्री अहितकर राख ढके अंगार सी मानी गई है। एक उदाहरण बहुत पहले पढा था, आज के संदर्भ में प्रासंगिक है – एक बुढ़िया थी जो सिर पर पोटली रखे धीरे-धीरे चली जा रही थी। बोझ के कारण वह थक चुकी

थी, इतने में एक घुड़सवार बाजू से निकला। बुढ़िया ने कहा बेटा ! मेरी यह पोटली रख लो, अगले गांव में इसे छोड़ देना। मैं धीरे–धीरे आ जाऊँगी। उस घुड़सवार ने बुढ़िया की बात सुनी अनसुनी की और कहता हुआ आगे बढ़ गया कि जब बोझा ढोते नहीं बनता तो इतना लादकर क्यों चलती हो ? मैं क्या किसी का नौकर हूं जो बोझा ढोता रहूं। और घुड़सवार आगे बढ़ गया। अचानक उसके मन में भाव आया कि बुढ़िया तो अकेली है, पोटली में माल भी जरूर रखा होगा। यहां कौन देख रहा है कि बुढ़िया ने मुझे पोटली दी है और जब तक यह गाव पहुंचेगी मैं कहीं का कही पहुंच जाऊँगा। वह वापिस आया और बड़े प्रेम से बुढ़िया से बोला– अम्मा जी ! उस समय जब आपने कहा था तब मेरा मन ठीक नहीं था, मैं थका हुआ था, समझ नहीं पाया था इसलिये तुम्हें मना कर दिया था, लाओ अब पोटली, मैं अगले गांव छोड़ दूंगा। अब तक बुढ़िया सम्हल चुकी थी वह बोली रहने दो बेटा, अब मैं ही ले आऊँगी। घुड़सवार बोला – अरे अम्मा जी यहां पर अभी कोई नहीं आया, किसने आकर क्या कह दिया, जो तुम मना करने लगीं।

बुढ़िया बोली– जिसने आकर तेरे से यह कह दिया कि बुढ़िया की पोटली ले लो, उसी ने मुझसे कह दिया कि सावधान ! इस अपरिचित व्यक्ति को अपनी पोटली मत देना। यह है हमारे परिणामों का प्रभाव। बुढिया का मन सरल था इसलिये वह प्रसन्न रही, किन्तु घुडसवार के मन में कुटिलता आई, जिससे वह बुढ़िया को ठगना चाह रहा था, पर ठगने वाला स्वयं ही ठगा सा रह गया। यहां तो देखा जाता है कि दूसरों को धोखा देने वाला स्वयं ही धोखा खा जाता है। दूसरों को छलने वाला स्वयं ही छला जाता है। आर्जव धर्म कहता है कि हमारा जीवन एकदम निश्छल और सरल होना चाहिए। हमारी प्रीति निस्वार्थ होनी चाहिए। जिस दिन यह सरलता हमारे अन्दर आ जाएगी उसी दिन से हमारे जीवन में धर्म का आनन्द बरसने लगेगा। ❑

शौच

❑ **प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम् (सर्वार्थसिद्धि ६–१६)**

अर्थः– प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना शौचधर्म है।

❑ **समसंतोसजलेण जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।**
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।।(का.अणु.)

अर्थः– जो समता और संतोष रूपी जल के द्वारा अपने तीव्र लोभ रूपी मल के पुंज को धोता है और भोजनादि अन्य पदार्थों में अत्यन्त आसक्त नहीं होता उसे शौच धर्म होता है।

❑ **लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।**
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्।।(स.सु.)

अर्थः– लोभ से क्रोध होता है, लोभ से काम होता है, लोभ से मोह (प्रेम) का नाश होता है और लोभ पाप का कारण है।

❑ **किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो। (जी.का.)**

अर्थः– क्रिमिराग (किरमिच) के समान, चक्रमल (पहिये में डाला गया ओंगन) के समान, शरीर में लगे मल (मैल) के समान तथा हल्दी के रंग के समान स्थिति वाला यह लोभ चार प्रकार का होता है।

❑ **शीतोरविर्भवति शीत रुचिः प्रतापी,**
स्तब्धं नभो जलनिधिः सरिदम्बुतृप्ताः।
स्थायी मसद् विदहनो दहनोऽपि जातुः,
लोभानलस्तु न कदाचिददाहकः स्यात्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– सूर्य कभी ठण्डा हो जाये, चन्द्रमा प्रतापी हो जाये, आकाश स्तब्ध हो जाये, समुद्र नदियों के जल से तृप्त हो जावे, वायु स्थिर हो जावे और अग्नि दाहरहित हो जावे परन्तु लोभ रूप अग्नि कभी दाह रहित नहीं होती।

❑ जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं।।(स.सु.)

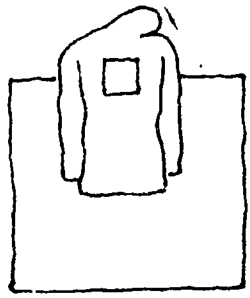
अर्थः— जैसे जैसे लाभ होता है वैसे वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढता जाता है। दो माशा सोने से निष्पन्न (पूर्ण) होने वाला कार्य करोड़ों स्वर्ण—मुद्राओं से भी पूरा नहीं होता।

❑ सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलास समा असंख्या।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।।
(स.सु.)

अर्थः— कदाचित् सोने और चांदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जायें, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता (तृप्ति नहीं होती), क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

❑

उत्तम शौच



शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम ही शौच धर्म है। जिसके हृदय में से मलिनता निकल जाती है, उसका जीवन स्वच्छ निर्मल एवं पवित्र हो जाता है। यह पवित्रता संतोष के माध्यम से एक साथ आती है। जैसे--जैसे व्यक्ति को लाभ होता है वैसे--वैसे उसका लोभ बढता जाता है। लोभ से इच्छा और इच्छा से तृष्णा बन जाती है जिसकी पूर्ति कर पाना कभी भी संभव नहीं है। बडा फर्क है पशु और मनुष्य की वृत्ति में। पशु का लोभ तो अपने पेट भरने तक सीमित है पेट भर जाने पर पशु आराम करता है परन्तु मनुष्य पेट ही नहीं पेटी भी भरना चाहता है, जो आज तक किसी की भरी ही नहीं गई है। कहा गया है कि संसार में चार स्थान कभी भरे ही नहीं जा सकते। (१) निरन्तर नदियों का जल गिरते रहने पर भी समुद्र (२) अनेक बार खाते रहने पर भी उदर का गर्त (३) हजारों मृत शरीरों को भस्म करके भी श्मशान और (४) तृष्णा का गड्ढा कभी भरा ही नहीं जा सकता। इनकी कितनी ही पूर्ति की जाय पर तृप्ति होना सम्भव ही नहीं। यह शुचिता का पावन पर्व हमें सदेश देता है कि सतोष जीवन का सार है, सुख का आधार है। इस सन्तोष धन के आते ही बाहरी गोधन गजधन आदि सारे धन वैभव धूलि के समान दिखाई देने लगते हैं। आत्मा की यही असपृक्त निर्मल परिणति शौचधर्म मानी गई है।

बाहर से शरीर की शुद्धि पर ध्यान तो सभी देते हैं। स्वच्छ जल से स्नानादि कर इसे साफ सुथरा रखते हैं। सुगंधित तेल इत्रादि भी लगाते हैं पर सभी जानते हैं कि देह से बहने वाली स्वाभाविक अपवित्रता का स्पर्श पाकर उत्तम पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। इसलिये यह शौचधर्म लोक व्यवहार की शुद्धि का ख्याल रखते हुये भी अन्तरंग की शुद्धि पर जोर देता है। बहिरंग की शुद्धि भले ही जल स्नान से हो जाये पर अन्तरंग आत्म तत्त्व की शुद्धि सन्तोष रूपी जल से ही होती है। आचार्य भगवन्त कार्तिकेय स्वामी ने कहा है –

सम संतोष जलेण जो धोवदि तिव्व लोह मलपुञ्जं।
भोयण गिद्धि विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।।

सन्तोष रूपी निर्मल जल से जो तीव्र लोभ रूप मलपुञ्ज को धोता है तथा भोजन की गृद्धता से रहित है उसको विमलता रूप शौच धर्म होता है।

एक प्रसंग आता है – महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका, पांडवों की विजय हुई और लोभी कौरवों का विनाश। इस संपत्ति और सत्ता संघर्ष के परिणाम को देखकर पाण्डवों का मन दुखी हुआ। पश्चाताप के भाव से आत्म शोधन हेतु पाडव तीर्थयात्रा पर निकले। श्रीकृष्ण से भी निवेदन किया गया कि आप भी तीर्थयात्रा पर चलें। नारायण कृष्ण ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुये कहा कि मेरी ओर से मेरी प्रतिनिधि स्वरूप इस तुम्बी को ले जाओ और तीर्थयात्रा करा लाओ। पाण्डवों ने तीर्थयात्रा की, जगह–जगह नदियों में स्नान किया। साथ में लाई गई कृष्ण की तुम्बी को भी खूब स्नान कराया। तीर्थयात्रा से वापस आने पर कृष्ण की तुम्बी कृष्ण को सौंपी गई। उन्होंने पाण्डवों को भोजन के लिये आमंत्रित भी किया। भोजन में उसी तुम्बी की बहुत बढ़िया खीर बनाई गई। खीर को चखा गया तो वह बहुत कड़वी थी।

पूछने पर कृष्ण ने कहा अरे यह खीर तो उसी तुम्बी की बनवाई गई है जो तुम्हारे साथ तीर्थयात्रा करके आई है। जिसने जगह–जगह महानदियों में स्नान किया है। फिर कडवाहट कैसी ? तब पाण्डवों को कुछ बात समझ में आई कि शरीर की शुद्धि के साथ–साथ अन्तरंग की मलिनता भी हटाना जरूरी है। उस समय उन पाण्डवों को बोध दिया गया –

आत्मा नदी संयम तोय पूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र ! ना वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।।

हे पाण्डुपुत्र ! आत्मा की नदी में जो संयम रूप जल से परिपूर्ण है, सत्य का प्रवाह है जिसमें, शील के तट हैं और दया की जिसमें लहरें उठ रही हैं उसमें अवगाहन करो, स्नान करो। अन्तरात्मा की शुद्धि मात्र जल स्नान से नहीं होती।

बंधुओ ! जब तक संतोष का भाव जीवन में नहीं आता, आकुलता हाय–हाय खत्म नहीं होती, धन संग्रह की प्रवृत्ति पर रोक नहीं लगती, भोगोपभोग की सामग्री की सीमा नहीं बनाई जाती तब तक इस शुचिता के धर्म को पाया ही नहीं जा सकता। **अतिसंग्रह करने वाला लोभी व्यक्ति समाज और राष्ट्र का अहितु माना गया है क्योंकि वह स्वयं भी सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं करता तथा जरूरतमंद समाज और राष्ट्र को भी उसका उपयोग नही करने देता।** इसलिये सभी कषाय भावों में लोभ सबसे ज्यादा खतरनाक माना गया है। इसी की पूर्ति में सारे पाप किये जाते हैं। दुनिया का ऐसा कोई पाप नहीं है जो लोभ लालच की वजह से न किया गया हो। यह लोभ पाप ही नहीं पापों का बाप माना गया है। व्यापार में धोखाधड़ी, कालाबजारी, मिलावट और ब्याह कर लाई गई कन्याओं को जीवित जला देने जैसे निन्दनीय दहेज काण्ड इसी लोभ कषाय की देन हैं। अर्थ लिप्सा में यह इन्सान कौन सा अनर्थ करने को तैयार नहीं हो जाता। एक

कहानी आती है – एक व्यक्ति दुकान पर नारियल खरीदने के लिये गया, नारियल की उसने कीमत पूछी। दुकानदार ने उसे नारियल की कीमत पॉच रुपये बताई। उसने उससे साढे चार रुपये मे नारियल मांगा। दुकानदार ने कहा यदि साढे चार रुपये का चाहिये है तो दूसरे गांव से ले लेना वहां साढे चार का नारियल मिलता है। इस तरह वह लोभ में आकर क्रमश. कम–कम कीमत के स्थानों पर जाते जाते समुद्री किनारे पर पहुच गया। वहां पर नारियल के बहुत वृक्ष लगे थे। पूछने पर किसी ने उससे कहा कि यदि मुफ्त मे चाहिये है तो वृक्ष पर चढ जा और स्वय तोड लो। लोभ में आकर वह वृक्ष पर चढ गया। सयोग कुछ ऐसा बना कि जैसे ही उसने नारियल तोडने को डाल पकडी कि उसके पैर तने से छूट गये और वह डाल पकडे अधर म लटक गया। बडी मजबूती से उसने नारियल की डाली को पकड लिया। थोडी देर में वहां से एक हाथी वाला निकला, उसने आवाज दी, मुझे बचा लो, मै यहां पर लटका हू, गिरूगा तो मर जाऊंगा। हाथी वाला बोला मैं तुम्हे उतार तो लूगा पर तुम मुझे क्या दोगे। मेरे पास १०० रुपये है, मै पूरे १०० रुपये दे दूगा। हाथी वाले ने सोचा अच्छा रहा १०० रुपये मुफ्त म मिल रहे है। वह हाथी को नीचे खड़ाकर उस पर स्वय खडा होकर उसे उतारने ही वाला था कि इतने मे हाथी आगे बढ गया और वह हाथी वाला भी उसे ही पकड़कर लटक गया। पहले वाला बोला भाई डाल को छोडता हू तो हाथी वाला बोला नही..नही। तुम्हारे पास जो है तुम्ही रखना और मेरा हाथी भी ले लेना। इतने में एक ऊँट वाला आया उसके साथ भी ऐसा ही हुआ। प्रलोभन म आकर जैसे ही वह उतारने को हुआ कि ऊँट भी आगे बढ गया अब इसके पास १०० रुपये एक हाथी और एक ऊँट भी हो गया। थोडी देर बाद एक घोडा वाला आया। उसने घोडे वाले को आवाज दी, हमसे जो चाहो ले लेना

पर हमें बचा लो, यहां पर लटके हुये हैं गिरेंगे तो मर जायेंगे। घोड़ा वाला भी लोभ में आ गया और जैसे ही वह उतारने को हुआ कि उसका घोड़ा भी आगे बढ़ गया। अब क्या था ? नारियल की डाल को पकड़े हुये जो लटका था उसके पैर क्रमशः हाथी वाला, ऊँट वाला और घोड़ा वाला पकड़कर लटके हुए थे। सबका जीवन खतरे में था। पहले वाले ने कहा भाई ! मेरे हाथ बहुत भारी हो रहे, मैं बहुत थक गया हूं। डाल से हाथ छूटने ही वाले हैं। नीचे लटके हुये उन तीनों ने कहा, नहीं भाई ! हम सबका जीवन तुम्हारे हाथों में है। आप जो कहोगे कर देंगे लेकिन डाल नहीं छोड़ना। वह कहने लगा -- अच्छा बताओ, तुम हमें क्या दोगे। तो क्रमशः हाथी, ऊँट और घोड़ा देने की बात तीनों ने दुहराई। वह लोभी व्यक्ति इतना पाने की बात सुनकर खुशी में सब भूल गया और जैसे ही ताली बजाने को हुआ कि सभी जन धड़ाम से धरती पर आ गिरे। नारियल की कीमत कम कराने की लोभी भावना से वह कहां से कहां तक पहुंच गया और कुछ पाने के भाव से हाथी, ऊँट और घोड़ा वाला कैसा फस गया यह शिक्षा हमें इस कहानी से मिलती है। इस तरह से लोभ मूर्च्छा और संग्रहवृत्ति के परिणामों को जानकर परम सन्तोष रूप शुचिता धर्म को अंगीकार करना चाहिये। जिन्होंने इस परम धर्म की शरण ली है उन्हीं का जीवन उज्ज्वल निर्मल और विशुद्धता को प्राप्त हुआ है। ❑

> तन को ही नहीं
> मन को भी मांजना होगा
> इस आत्मा में लगी
> लोभ गृद्धता की काई को हटाकर
> शुचिधाम संतोष का अञ्जन आंजना होगा

सत्य

❑ जिणवयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
वव्हारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो।।(का.अ.)

अर्थः— जैन शास्त्रों में कहे हुये आचार को पालने में असमर्थ होते हुए भी जो जिन वचन का ही कथन करता है उससे विपरीत कथन नहीं करता, तथा जो व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता वह सत्यवादी है।

❑ पर संतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं।। (बा.अणु.)

अर्थः— जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुंचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है।

❑ सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते।(स.सि.)

अर्थः— सत्पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य धर्म है।

❑ सत्यं हितं मितं ब्रूयान्मर्महिंसादिवर्जितम्।
धर्मोपदेशकं सारं श्रोतृ श्रवण सौख्यदम्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— सदा सत्य, हित, मित, मर्मघात आदि से रहित, धर्मोपदेशक, सार तथा श्रोताओं के कानों के लिए सुखदायक वचन बोलना चाहिए।

❑ हत्वा हासं कफवल्लोभमपास्यामवद् भयं भित्वा।
वातवदपोह्य कोपं पित्त वदनुसूत्रयेद् गिरं स्वस्थः।।
(स.श्लो.सं.)

अर्थः— हास्य को कफ के समान नष्ट कर, लोभ को ऑव के समान छोड़कर, भय को वात के समान भेदकर और क्रोध को पित्त के समान छोड़कर स्वस्थ मनुष्य को वाणी बोलना चाहिए।

❑ **स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।**
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूल मृषावाद वैरमणम्।।(रत्न.श्रा.)

अर्थः– जो लोक विरुद्ध, राज्य विरुद्ध एवं धर्म विघातक स्थूल झूठ को न स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जो दूसरों को विपत्ति में डालने में कारण बने वह सत्याणुव्रत कहलाता है।

❑ **मर्मच्छेदि मनः शल्यं च्युतस्थैर्यं विरोधकम्।**
निर्दयं च वचस्त्याज्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– मर्मभेदी, मन में शल्य उपजाने वाला, धैर्य छुड़ाने वाला, विरोध कराने वाला और दयारहित वचन कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं कहना चाहिए।

❑ **विनष्टजिह्वाः परिनिन्द्यवाचः,**
खरोष्ट्रमार्जारविकाक नादाः।
विवेकशून्या जडमूकभावा,
नरा भवन्त्यत्र मृषाभिधानात्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– इस जगत् में असत्य बोलने से मनुष्य विकृत् जीभवाले, निन्दनीय वचन वाले, गधा, ऊँट, बिलाव, कांव–कांव करने वाले काक, विवेक रहित, मूर्ख तथा गूंगे होते हैं।

❑ **सत्यवाक् सत्यसामर्थ्याद् वचः सिद्धिं समश्नुते।**
वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्रयत्रोपजायते।।(स.श्लो.सं.)

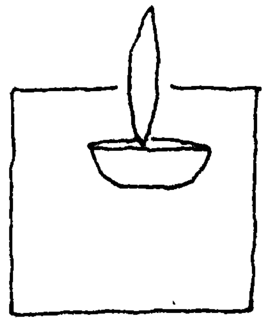
अर्थः– सत्यवादी मनुष्य सत्य के सामर्थ्य से वचनसिद्धि को प्राप्त होता है वह जहां–जहां जाता है वहां वहां उसकी वाणी मान्य होती है।

❑ **विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरुव्व लोअस्स।**
सयणुव्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ।।(स.सु.)

अर्थः– सत्यवादी मनुष्य माता की तरह विश्वसनीय, जनता के लिये गुरु की तरह पूज्य और स्वजन की भांति सबको प्रिय होता है।

❑

उत्तम सत्य



कहा जाता है कि परमेश्वर सृष्टि को चलाता है और यह भी कहा जाता है कि सत्य ही परमेश्वर है तब फिर यह बात सहज ही सिद्ध होती है कि सत्य रूप परमेश्वर से ही सृष्टि चल रही है। सत् का भाव ही सत्य है। जो था, है और रहेगा वही सत्य है।

किसी कवि ने कहा है –

सत्य सृष्टि का सार सत्य निर्बल का बल है
सत्य सत्य है सत्य नित्य है अटल अमल है
जीवन–सर में सरस सत्य का खिलता दिव्य कमल है
क्षमा नम्रता ऋजुता शुचिता का सत ही सम्बल है

इस सत्य को समझने के पहले हमें यह भी समझना होगा कि आखिर झूठ क्या है ? तो जो हम नहीं हैं, जैसे हम नहीं हैं, और जितने हम नहीं हैं, वह, वैसे और उतने अपने आपको प्रदर्शित करना झूठ है। इस झूठ के कई मुखौटे हैं, कई–कई चेहरे हैं किन्तु सत्य इन सबसे परे है। जो, जैसे और जितने रूप में हम हैं, वैसा ही प्रगट करना सत्य है। यह सत्य तो एक अनुभूति है जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता किन्तु जो वचनों से व्यक्त किया जाता है वह सत्य नहीं सत्यांश है। असीम शाश्वत् सत्य के सागर की लहर मात्र है। एक श्लोक के माध्यम से हम इस सत्य के स्वरूप को समझ सकते हैं –

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
नानृतं च प्रियं ब्रूयात् एषः धर्म सनातनः।।

सत्य बोलो, प्रिय बोलो किन्तु अप्रिय सत्य और प्रिय झूठ कभी मत बोलो यही सनातन धर्म है। इस बात को एक उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है – एक राजा था, वह बहुत सुन्दर था किन्तु उसकी एक आंख खराब थी, पर था वह बडा बुद्धिमान। उसने अपने राज्य के प्रसिद्ध तीन चित्रकारों को बुलाया और कहा कि तुम तीनों को अलग–अलग सुन्दर चित्र बनाना है। जिसका चित्र मुझे सबसे अच्छा लगेगा उसे पुरस्कार मिलेगा। तीनों चित्रकारों ने अपनी सूझबूझ से मनभावन सुन्दर चित्र बनाये। राजा उन्हें देखने के लिये गया। पहले वाले चित्रकार ने राजा को हू ब हू ज्यो का त्यो एक आंख वाला, चित्र मे दर्शाया। राजा ने देखा और सोचा यह सत्य तो है पर प्रिय नहीं है दूसरे वाले चित्रकार ने चित्र मे राजा को दोनों आंखों वाला दर्शाया, देखकर राजा ने सोचा यह चित्र प्रिय तो है पर सत्य नहीं है। अब बारी थी तीसरे चित्रकार का चित्र देखने की। ज्यों ही उसका चित्र देखा राजा ने, राजा एकदम प्रसन्न हो गया। इस तीसरे चित्र में राजा को सूझबूझ भरी, बड़ी विशेषता दिखी। इस चित्र में भी चित्रकार ने राजा का ही चित्र बनाया, किन्तु धनुष पर निशाना साधते हुये। जिसमें बाण के खिंचाव ने राजा की कानी आंख को ढक लिया था। सत्य के मर्मज्ञ उस राजा ने कहा कि पुरस्कार इस तीसरे वाले चित्रकार को मिलेगा क्योंकि इसने जो चित्र बनाया है उसमें मुझे सत्य भी दिख रहा है और प्रिय भी लग रहा है। यही है इस सनातन सत्य का रहस्य।

बन्धुओ ! प्राणघातक, कर्कश, पीड़ादायक और अपवाद फैलाने वाला सत्य भी झूठ माना गया है क्योंकि इसमें सामने वाले को सम्हालने की बात नहीं है। दया और प्राणी रक्षा का भाव नहीं

है। अतः यह सत्य होते हुये भी झूठ ही है किन्तु निःस्वार्थ भाव से प्राणी रक्षा के निमित्त बोला गया झूठ भी सत्य माना गया है। आचार्यों ने कहा है कि व्यक्ति मुख्य तीन कारणों से झूठ बोलता है। उसमें पहला कारण है स्नेह, दूसरा है लोभ और तीसरा है भय। इन्हीं की वजह से यह इन्सान झूठ बोलता रहता है। कथानक सभी को मालूम हैं–राजा वसु ने झूठ स्नेह के कारण बोली थी, सत्यघोष ने झूठ धन के लोभ के कारण बोली थी और युधिष्ठिर ने महाभारत के युद्ध में जो **"अश्वत्थामा हतो हताः, नरो वा कुंजरो वा"** रूप झूठ बोली थी वह भय के कारण ही बोली थी। और फिर उस झूठ के परिणामों को यह मनुष्य भोगता रहता है। जब लोगों को मालूम होता है कि यह आदमी झूठ बोलता है तो हमारी प्रामाणिकता खंडित होती है, प्रतिष्ठा साख गिर जाती है फिर कोई हमारे ऊपर विश्वास नहीं करता। हुआ ऐसा एक बार एक व्यक्ति को वाहन से टक्कर लग गई। टक्कर थोड़ी ही लगी थी पर उसे तो मानो मौका ही मिल गया। हाथ में खूब पट्टियां बांधकर मुआवजा लेने कोर्ट में पहुंचा–जज ने पूछा हाथ टूट गया, लगता है तकलीफ बहुत है हाथ में। हां मालिक ! हाथ बिल्कुल भी नहीं उठ रहा, सारे काम बंद हैं। थोड़ा बहुत भी नहीं उठता हाथ जज ने पूछा–नहीं, बिल्कुल भी नहीं उठता। जज ने फिर कहा– अच्छा ये बताओ पहले कितने ऊपर तक उठ जाता था। उसने एकदम हाथ ऊपर करते हुये कहा कि पहले इतना उठ जाता था और देखते ही देखते उसकी झूठ का पर्दाफाश हो गया। फिर क्या ? उसे कोर्ट के बाहर निकाल दिया गया। इस तरह से हम लोग जीवन में अपने काम बनाने के लिये तरह–तरह से झूठ के आलम्बन लेते हैं **किन्तु सत्य एक ऐसा धर्म है जो हमारे बाहरी काम तो बनाता ही है साथ ही साथ भीतरी आतमराम से भी मुलाकात करा देता है**। इस सत्य की साधना–आराधना

करने वाले बड़े–बड़े ऋषि सन्त, श्रेष्ठि श्रावक हुये हैं जिन्होंने अपने जीवन को सत्य से सुशोभित किया तथा यश को प्राप्त किया। सत्यवादी को कठिनाईयां जरूर आती हैं, परीक्षा होती है, संघर्ष करना पडता है किन्तु अन्ततः जीत उसी की होती है –

कौरवों की खुशी और रावण की विद्या
असत्य है अस्थायी असार है–
किन्तु स्थायी सत्य सार तो
पाण्डवों की जीत, सीता की प्रतिज्ञा
और राम राज्य का विस्तार है।

अतः बन्धुओ ! हमें उस सत्य को जीवन मे अपनाना चाहिये। यही सनातन धर्म है। इसी के प्रभाव से आज भी इतिहास में सत्यवादियों का बड़ी निष्ठा के साथ नाम लिया जाता है।

❑

❑ **कृते प्रतिग्रहं सन्तस्त्रेतायां प्रतिपाटकम्।**
द्वापरे ग्राममध्येको देशेऽप्येकः कलौयुगे।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– कृतयुग में घर–घर में सज्जन होते थे। त्रेतायुग में मुहल्ले में एक, द्वापर में ग्राम में एक और कलयुग में देश में एक सज्जन होता है।

❑ **अद्भिः शुद्धयन्ति वस्त्राणि मनः सत्येन शुद्धयति।**
अहिंसया च पूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।।(नी.श्लोक)

अर्थः– जल से वस्त्र शुद्ध होते हैं, सत्य से मन शुद्ध होता है, अहिंसा से आत्मा पवित्र होती है और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

संयम

❑ वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा।। (बा.अणु.)

अर्थः– व्रत व समितियों का पालन, मन–वचन–काय की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रियजय यह सब जिसको होते हैं उसको नियम से संयम धर्म होता है।

❑ समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः। (सर्वार्थसिद्धि ९–१६)

अर्थः– समितियो मे प्रवृत्ति करने वाले मुनि के लिए उसका परिपालन करने के लिए जो प्राणियों का और इन्द्रियों का परिहार होता है वह संयम है।

❑ सम्मोहयन्ति सम्पत्सु तापयन्ति विपत्सु च।
खेदयन्त्यभावेन कदा भोगाः सुखावहाः।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– जो सम्पत्ति के समय समोह उत्पन्न करते है विपत्ति मे संताप पहुचाते हैं और अन्त हो जाने से खेद करते है ऐसे भोग सुखदायक कब होते हैं।

❑ जिह्वे: प्रमाणं जानीहि भोजने भाषणेऽपि च।
अति भुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– हे जिह्वे: तू भोजन और भाषण मे भी प्रमाण को जान ले क्योंकि अधिक भुक्ति (अधिक खाना) और अति उक्ति (अधिक बोलना) शीघ्र ही प्राणापहारी है।

❑ कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग–मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एक प्रमादी स कथं न हन्यात् यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– हरिणी, हाथी, पतंगा, भ्रमर और मछली ये पाच प्राणी एक–एक इन्द्रिय के विषय में प्रमादी होकर मारे गये परन्तु जो पाचों इन्द्रियों के द्वारा पांचों विषयों का सेवन करता है वह क्यों नही मारा जावेगा।

❑ जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतवो होइ असंवेगी।।(स.सु.)

अर्थः— जिससे विराग उत्पन्न होता है उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिये। विरक्त व्यक्ति संसार बंधन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का संसार अनन्त हो जाता है।

❑ तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स।
तो तवसंजमभंडं, सुविहिय! गिण्हाहि तूरंतो।।(स.सु.)

अर्थः— यदि तू घोर भवसागर के पार (तट पर) जाना चाहता है, तो हे सुविहित! शीघ्र ही तप–संयमरूपी नौका को ग्रहण कर।

❑ विषयेषु यथाचित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम्।
तथा यद्यात्मनस्तत्त्वे सद्यः को न शिवीभवेत्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— इस जीव का चित्त जिस प्रकार विषयों में मग्न रहता है उस प्रकार यदि निराकुल हो आत्मतत्त्व में मग्न हो सके तो कौन न शीघ्र मुक्त हो जावे।

❑ नाणेण य झाणेण य, तवोबलेण य बला निरूभंति।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं।।(स.सु.)

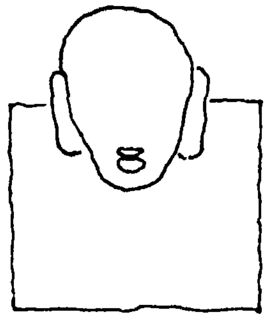
अर्थः— ज्ञान ध्यान और तपोबल से इन्द्रिय–विषयों को बलपूर्वक रोकना चाहिये, जैसे कि लगाम के द्वारा घोड़ों को बलपूर्वक रोका जाता है।

❑ जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे।।(स.सु.)

अर्थः— जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है वैसे ही मेधावी (ज्ञानी) पुरुष पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

❑

उत्तम संयम



एक बार ऐसा हुआ–अफ्रीका के वन में पोस्टमेन पोस्ट आफिस से डाक लेकर अपने गांव आ रहा था। साइकिल पर डाक की थैली थी। ढलान आई जिससे साइकिल की रफ्तार काफी तेज हो गई। अचानक वह देखता है कि सामने रास्ते में एक शेर लेटा हुआ है। उसने एकदम ब्रेक लगाना चाहा पर देखा तो ब्रेक थे ही नहीं। वह तो घबड़ा गया और साइकिल आनन फानन तेज रफतार में शेर पर जा गिरी। अचानक आई हुई यह मशीन सी देखकर शेर हड़बड़ाकर भागा। यहां इसने भी झटपट अपनी साइकिल उठायी और गांव की ओर भागा। डाकखाने पहुंचकर पोस्टमेन ने जोर से साइकिल पटकते हुये कहा बिना ब्रेक की ऐसी साइकिल से अब हम नहीं जायेंगे। आज तो मेरा भाग्य अच्छा था कि बच गये अन्यथा बचकर आने वाले नहीं थे। घटना तो पूर्ण हुई। पर इसका मतलब यह है कि जीवन के बचाव के लिये ब्रेक अत्यन्त जरूरी है। यह ब्रेक ही संयम कहलाता है। एक तांगे को गन्तव्य तक सुरक्षित ले जाने तांगावाला घोड़े को तरह–तरह से संयत करता है। आंख, मुंह, कान आदि की तरह–तरह की लगाम लगानी पडती है उसे। तो फिर जीवन को सुरक्षित सुख शांति की मंजिल तक पहुंचाने संयम की कितनी जरूरत नहीं पड़ेगी। देखा गया है कि नदी उद्‌गम से निकलकर सागर तक जाने का लक्ष्य लेकर बहती है पर वही नदी सागर तक पहुंच पाती है जिसने तट बन्धों को स्वीकार किया है। तटों का

अभाव या उनका उल्लंघन नदी के जीवन को समाप्त कर देता है। तटों के अभाव में कहीं भी मरुस्थल में भटककर सूख जाती है और उल्लंघन में विनाशकारी बाढ़ का रूप ले लेती है। इसलिये **तटों से बंधी नदी जिस तरह स्वयं तो सागर में मिलकर विराट बनती ही है पर जन–जन की उपयोगी भी हो जाती है उसी प्रकार संयम के बन्धन में बंधा यह मनुष्य का जीवन परोपकारी परपरितापहारी बनकर शांति के सागर को प्राप्त कर लेता है।** इस तरह नदी के दो किनारे ही इस धर्म में इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम के भेद स्वरूप हैं।

इन्द्रियों को वश में रखना इन्द्रिय संयम है और प्राणि पीड़ा का परिहार करना प्राणि संयम है। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां हैं। इन इन्द्रिय के विषयों में आसक्त हुआ यह मोही प्राणी अपने स्वभाव को भूल रहा है। अपनी ही अज्ञानता का परिणाम है कि सामर्थ्य शक्तिवान होते हुये भी दास बना हुआ है। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हुआ हाथी कृत्रिम हथिनी की चाह में अपने को गड्ढे में गिरा देता है। रसना मछली का जीवन छीन लेती है। गन्धलोलुपी भ्रमर कमल पत्रों में दबकर मर जाता है। रूप का अनुरागी पतंगा दीपक की लौ पर जल मरता है तथा स्वर संगीत में बंधा हुआ हरिण जीवन से हाथ धो बैठता है। एक–एक इन्द्रिय विषयों की अधीनता का परिणाम जब इस तरह का है तब फिर पांचों इन्द्रियों के वशीभूत हुये प्राणी की क्या दशा होगी ? इसका विचार आप स्वयं ही कर सकते हैं। अच्छा अच्छा मृदु मुलायम स्पर्श करना, अच्छा–अच्छा स्वाद लेना, गंध लेना, मनोहर रूप, आकृतियां देखना तथा कर्ण प्रिय गीत संगीत सुनना, इन्हीं विषयों की पूर्ति में जीवन लगा है। मन रमा है इसी

में। असल में इन सबका रस लेने वाला तो मन ही है। मन के इशारे पर ही इन्द्रियां प्रवृत्ति करती हैं अतः मन को भी संयत बनाना अत्यन्त जरूरी है। मन नटखटी है, बन्दर के समान चंचल है और ऐसा बन्दर जिसने मदिरा पी ली हो तथा उसे किसी विच्छु ने डंक भी मार दिया हो ऐसी स्थिति में उसकी चंचलता का कहना ही क्या ? वह अपनी चंचलता में क्या रंग दिखायेगा कुछ कहा नहीं जा सकता। योगियों ने कहा है ऐसे मन को भी विवेक (जागृति) और वैराग्य (अभ्यास) के द्वारा वश में किया जा सकता है। कहा गया है कि शरीर एक गाड़ी है और मन उसका ड्रायवर। गाड़ी कितनी ही अच्छी क्यों न हो यदि उसका ड्रायवर सावधान नहीं है, नशे में है तो गाड़ी कहां तक बचेगी ? मोह की मदिरा पीने वाला यह मन अचेत बेहोशी की दशा में अनर्थ कराता ही है। अतः मन की इस प्रवृत्ति को समझकर हम इसके मालिक बनें गुलाम नहीं। इसकी दासता से मुक्त हो इन्द्रिय जेता बनें तभी सच्चे जैन और जिन बन पायेंगे।

एक उदाहरण आता है—राजा साहब प्रतिदिन ताजे फूलों की सेज पर शयन करते थे। उनके लिये प्रतिदिन सुन्दर सुन्दर खुशबूदार फूलों की सेज तैयार की जाती थी। एक दिन कार्य की व्यस्ततावश राजा को आने में थोड़ा विलम्ब हुआ। यहां नौकर के मन में भाव आया कि राजा तो रोज–रोज इसका आनन्द लेता है, अभी उनके आने में देरी है, क्यों न हो थोडी देर मैं ही लेटकर देख लूं कैसा लगता है ? नौकर लेटा, थका हुआ तो था ही, अतः उसकी झपकी लग गई। इसी बीच राजा साहब का आना हो गया। अरे ! नौकर पहले सोता है मेरी शैया पर ऐसा विचार कर राजा तो आग बबूला हो गया। पास में ही कोड़ा रखा

था उसे उठाकर नौकर की पिटाई शुरु कर दी। नौकर तो एकदम हड़बड़ाकर उठा। अब तो उसे कुछ कहने या क्षमायाचना तक का वक्त नहीं था। राजा आपे से बाहर था। बिना कुछ पूछे कहे ही नौकर पर कोड़े बरसने लगे। पता नहीं नौकर को क्या हुआ वह अचानक हंसने लगा। ज्यों ज्यों राजा पिटाई कर रहा था त्यों त्यों वह हंस रहा था। राजा को आश्चर्य हुआ कि पिटाई करने पर यह हंस क्यों रहा है ? पूछने पर नौकर ने कहा राजन् ! मैं यह सोचकर हंस रहा हूं कि एक दिन मात्र थोड़ी देर के लिये सोने में मुझे इतनी सजा मिल रही तो जो रोज–रोज शयन करते हैं उनके लिये कितनी सजा मिलेगी ? यह दूरदर्शी विचार जैसे ही राजा ने सुना कि राजा की आंखें खुल गई। उसके हाथ का कोड़ा जमीन पर गिर गया। क्रोध शान्त हो गया। इस नई बात, नई दिशा को पाते ही राजा का चिन्तन बदल गया और वह अपने जीवन कल्याण में लग गया।

इन्द्रिय संयम के बाद प्राणि संयम की बात आती है। इस संयम में प्राणियों की रक्षा मुख्य है। पंच स्थावर और त्रस इस तरह षट् जीवनिकाय की रक्षा करना प्राणि संयम है। अहिंसा करुणा दया की भावना से प्राणि पीड़ा का परिहार इस धर्म की मूल भावभूमि है। मुनिराज की चर्या तो परम करुणावान है ही। मनसा वाचा कर्मणा वह सम्पूर्ण त्रस स्थावर जीवराशि की रक्षा करते हुये अहिंसक आचरण करते हैं किन्तु गृहस्थ पूर्ण हिंसा से विरत नहीं हो पाता। इसलिये जैनी गृहस्थ को देवदर्शन के साथ–साथ रात्रि भोजन त्याग एवं पानी छानकर पीना अनिवार्य बतलाया गया है। गृहस्थ अवस्था में भी अहिंसादि व्रतों का एक देश पालन किया जाता है पर आज के अविवेकी गृहस्थों के बारे

में क्या कहें ? न आहार की शुद्धि है न व्यापार की शुद्धि है तब विचार और व्यवहार की शुद्धि की बात तो मात्र चर्चा ही होगी। आचरण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। गृहस्थ आज दिन प्रतिदिन मर्यादायें तोड़ता जा रहा है। खानपान की मर्यादायें टूट रही हैं,अभक्ष्य, अस्पृश्य और मादक पदार्थ तक भोजन में सम्मिलित होने लगे हैं। तामसिक और चटपटी मसालेदार वस्तुयें ज्यादा रुचिकर लगती हैं। असंयम की पोषक, जो रागवर्धक तो होती ही हैं स्वास्थ्य के लिये हानिकारक भी होती हैं। तरह–तरह के पान मसाले, गुटखा, तम्बाखू आदि के दुष्परिणाम विभिन्न रोग (यहां तक केंसर आदि) के रूप में भी देखने में आ रहे हैं। अधिकांशतः सौंदर्य प्रसाधन की सामग्री हिंसात्मक तरीके से तैयार होती है। या तो वह स्वयं जीव हिंसा से तैयार होती है अथवा तैयार होने के बाद उसके परीक्षण में जीव हिंसा होती है। रेशम की साड़ी और कोशे का कुरता तो मानो जीवों का कलेवर ही है। हम अपने शारीरिक सौंदर्य, सुख सुविधा औरं जिह्वा के स्वाद के पीछे पता नहीं कितने जाने अनजाने हिंसा के भागीदार हो रहे हैं। हमें नहीं मालूम कि यह क्षणभर का सुख हमारे लिये भव भव में कितनी बड़ी दुख की परम्परा देकर जाता है। इसी भाव को बतलाने वाली एक गाथा है –

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसार मोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ काम भोगा।।

ये काम भोग क्षण भर सुख और चिरकाल तक दुख देने वाले हैं, बहुत दुख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार–मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान हैं।

आज का यह पावन धर्म हमें संयम की प्रेरणा देता है।

अपने जीवन में कुछ न कुछ संयम आना ही चाहिये। बीज के समान छोटे–छोटे नियमव्रत भी एक दिन बहुत बड़े विस्तार को पा जाते हैं। कहा गया है –

घुटनों के बल चलते चलते
पांव खड़े हो जाते हैं।
छोटे छोटे नियम एक दिन
बहुत बड़े हो जाते हैं।।

प्रथमानुयोग ग्रन्थों में तो ऐसे अनेक उदाहरण आये हैं। सिंह, श्वान, सर्प, गाय, बैल, हाथी, तोता आदि पशु पक्षी भी सम्यग्दर्शन पा लेते हैं। व्रतों को अंगीकार कर सद्गति के पात्र होते हैं। रात्रिपानी का त्याग करने वाला सियार प्रीतिंकर हुआ और मात्र कौये का मांस छोड़ने वाला पुरुरवा भील स्वर्ग को पाकर एक दिन तीर्थंकर भगवान भी बना। यह व्रत नियम संयम का माहात्म्य है। नरक गति और देवगति में तो यह संयम है ही नहीं, तिर्यंचगति में संयम है पर पूर्ण नहीं है। मनुष्य गति ही एक ऐसी गति है जिसमें संयम का पूर्ण पालन किया जा सकता है और उसी भव से मुक्ति का लाभ भी लिया जा सकता है। मुक्ति की प्राप्ति संयम से ही संभव है। साधारण गृहस्थ की बात क्या जिस संयम के बिना तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि, तीर्थंकर प्रभु जो कि अभी घर में हैं उन्हें भी सिद्धि नहीं। संयम ही एक मात्र सिद्धि का साधन है। हिन्दी पूजन में कहा गया है–

जिस बिना नहिं जिनराज सीझे तू रुल्यो जगकीच में।
इक घरीमत बिसरो करो नित आव जम मुखबीच में।।

जिस संयम के बिना तो घर में रहते हुये तीर्थंकर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सके तो फिर तुम क्यों भूल रहे हो। अरे हमेशा इस

बात का ध्यान रखो कि जैसे तुम यम के मुख में ही बैठे हो।

सुकुमाल स्वामी का उदाहरण आता है। कितना सुकुमार था उनका जीवन। सूर्यप्रकाश कभी देखा नहीं, रत्न प्रकाश में ही दिन रात व्यतीत होते थे। दीपक की ज्योति देख लें तो आंखों से आंसू आ जाते थे। कमल पत्र में भीगे हुए सुवासित चावलों का ही जिनका आहार था। इतना सुकुमार जीवन। शरीर के प्रति इतना सघन मोह, इतनी आसक्ति। जरा सी भी प्रतिकूलता सहन नहीं हो पाती थी। पर जब वैराग्य भाव उमड़ा, तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हुई तो उसी देह से दीक्षित हो घोर उपसर्ग भी सहन किया। इस सबके लिये विवेक, विज्ञान साहस और दृढता की बड़ी जरूरत है। हम भी अपने इस क्षणभंगुर नाशवान जीवन में संयम की आराधना करें। संसार सागर से पार होने का इसे साधन बनायें। विषय कषायों से ऊपर उठने का प्रयास करें। असंयम के साथ तो अनन्तों बार मरण हो चुका अब एक बार तो कम से कम संयम के साथ मरण हो ताकि दुर्गति से बचा जा सके और सुगति को पाकर मुक्ति का वरण किया जा सके।

❑

❑ नमूँ सिद्ध सिद्धाँत को और नमूँ पद पाँच।
जिनके सुमरन जपन से कभी न आती आँच।। १ ।।

करूँ शुद्ध का ज्ञान मैं और उसी का ध्यान।
उसे जगा लूँ सो रहा जो निज का भगवान ।। २ ।।

तप

❑ इह–पर–लोय–सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम भावो।
विविहं काय–किलेसं तव–धम्मो णिम्मलो तस्स।।
(का.अणु.)

अर्थः– जो समभावी इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का काय क्लेश करता है उसके निर्मल तप धर्म होता है।

❑ विसयकसाय–विणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण।।(बा.अणु.)

अर्थः– इन्द्रिय विषयों तथा कषायों का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो आत्मा को भावित करता है उसी के तप धर्म होता है।

❑ कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः–। (स.सि.)

अर्थः– कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है।

❑ इच्छा निरोधः तपः

अर्थः– इच्छा का निरोध करना तप है।

❑ जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयंमि।।(स.सु.)

अर्थः– जहां कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिन पूजन तथा अनशन (आत्म लाभ के लिए) किया जाता है वह सब तप है विशेषकर मुग्ध अर्थात् भक्तजन यही तप करते हैं।

❑ तपः सर्वाक्षसारङ्ग–वशीकरणवागुरा।
कषायतापमृद्वीका कर्माजीर्ण हरीतकी।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– तप, समस्त इन्द्रिय रूपी मृगों को वश करने वाला जाल है, कषायरूप गर्मी को शान्त करने के लिए मुनक्कादाख है और

कर्मरूपी अजीर्ण को दूर करने के लिए हरड़ है।

❑ **मानुष्यं दुर्लभं लोके पाण्डित्यमति दुर्लभम्।**
अर्हच्छासनमत्यन्तं तपस्त्रैलोक्य दुर्लभम्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— लोक में मनुष्य—जन्म दुर्लभ है। पाण्डित्य (भेद विज्ञान) अति दुर्लभ है, जैन धर्म अत्यन्त दुर्लभ है और तप तीनों लोकों में दुर्लभ है।

❑ **स्थाल्यां वैडूर्यमय्यां पचति तिलखलं चन्दनैरिन्धनौघैः,**
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कतूलस्य हेतोः।
छित्वा कर्पूरखण्डं वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्,
प्राप्यैनां कर्मभूमिं न चरति मतिमान् यस्तपो मंदभाग्यः।।
(स.श्लो.सं.)

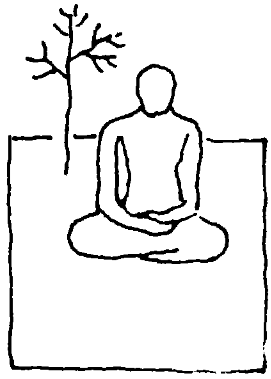
अर्थः— जो भाग्यहीन बुद्धिमान् मनुष्य इस कर्म भूमि को प्राप्त कर तपश्चरण नहीं करता है वह नीलमणि की बटलोई में चंदन रूप ईधन के समूह से तिल की खली पकाता है, अर्कतूल के लिए सुवर्णमय हलों के अग्रभाग से पृथ्वी को जोतता है और कर्पूर के वृक्षों को काटकर उनसे कोद्रव के खेत में वाटिगा (बाड़ी) लगाता है।

❑ **संतोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः,**
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरितशमदलः शीलसंपत्प्रवालः।
श्रद्धाम्भः पूरसेकाद् विपुलबलयुतैश्वर्यसौन्दर्यभोगः,
स्वर्गादिप्राप्तपुष्पः शिवपदफलदःस्यात्तपः पादपोऽयम्।।
(स.श्लो.सं.)

अर्थः— संयम ही जिसकी मोटी जड़ है, शान्ति समूह ही जिसका सुविस्तृत स्कन्ध (तना) है। पञ्चेन्द्रिय दमन ही जिसकी शाखायें हैं, प्रकट शान्ति परिणाम ही जिसके पत्ते हैं, शील संपत् ही जिसके पल्लव हैं, श्रद्धारूपी जल के सिंचन् से जिसका सबल एवं सुविस्तृत सौन्दर्य भोग है, स्वर्गादिक जिसमें पुष्प हैं तथा जो मोक्षरूपी फल को देने वाला है ऐसा यह तप रूपी वृक्ष है।

❑

उत्तम तप



"तप्यते इति तपः" जो तपा जाय वह तप है। शरीर को सुख सुविधा देना, मन की इच्छापूर्ति करना प्राणी को अच्छा लगता है किन्तु शरीर को संयत करते हुए मन में उठी इच्छाओं का निरोध करना सम्यक् तप माना गया है। इसमें जरा प्रतिकूलता, कठिनाई महसूस होती है, मन की इसी सुविधा भोगी प्रवृत्ति को समझकर आत्मार्थीजन आत्मशुद्धि और सिद्धि के लिये इस तप के मार्ग को अपनाते हैं।

तप रसायन है शुद्धि का। जिस तरह अग्नि में तपाकर स्वर्ण का शोधन किया जाता है उसी प्रकार तप में दग्ध आत्मा कर्मकालिमा से रहित कुन्दन सी दमकने लगती है। जगत में तो यह भी देखा जाता है कि स्वर्ण से ज्यादा कीमत उसकी भस्म की रहती है इसका मतलब ही यहं है कि तप की अग्नि में दग्ध आत्मा अत्यन्त कीमती हो जाती है। तप का वर्ण अग्नि का माना गया है, अग्नि ऊर्ध्वगामी रहती है अतः तपस्वी का जीवन भी ऊर्ध्वगामी ही रहता है। तप से परिपक्वता आती है। कड़ाही में डाला गया घी, तेल जब तक कड़क गरम नहीं होता तब तक पकवान तैयार नहीं हो सकते। फलों को यदि पर्याप्त तपन (धूप) न मिले तो उनमें परिपक्वता मिठास नहीं आ सकती। क्या बतायें तप की महिमा तो इतनी है कि वह पतित को पावन परमात्मा भी बना देता है। घट में परिणत हुई एक अकिञ्चन पददलित माटी भी जब तपन ताप को पाकर जन जन की प्रिय शिरोधार्य हो जाती है तब इस तप

के प्रभाव से आत्मा परमात्म–पद को पा ले इसमें क्या आश्चर्य की बात है ?

बहिरंग और अन्तरंग के भेद से तप दो प्रकार का है। अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये छह बहिरंग तप कहे गये हैं। जो तप बाहर से देखने में आ जाते हैं, अथवा जिन्हें अन्य मतावलम्बी भी कर लेते हैं उन्हें बहिरंग तप कहा गया है किन्तु जिन्हें हम बाहर से नहीं देख पाते तथा जिनका विधान सिर्फ जैन तप–परम्परा में ही प्राप्त होता है वह अन्तरंग तप कहलाता है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से अन्तरंग तप छह प्रकार का है–

अनशनः– अशन अर्थात् भोजन, उसका त्याग अनशन है।

अवमोदर्यः– भूख से कम भोजन करना अवमोदर्य माना गया है।

वृत्तिपरिसंख्यानः– विधि, ऑखडी या प्रतिज्ञा लेकर आहार चर्या को निकलने का नाम वृत्तिपरिसंख्यान है।

रसपरित्यागः– एक दो आदि रसों का त्याग करना रस परित्याग है।

विविक्तशय्यासनः– एकान्त शून्य निर्जन स्थान में बैठना शयन करना विविक्तशय्यासन है।

कायक्लेशः– आरामतलबी की भावना दूर करने के लिये आतापन आदि योग धारण करना तथा विभिन्न आसन आदि लगाना कायक्लेश तप है।

प्रायश्चित्तः– प्रमाद जनित दोषों का शोधन किया जाना प्रायश्चित्त है।

विनयः– गुणों के प्रति, गुणवान पूज्य पुरुषों के प्रति आदर का भाव रखना विनय है।

वैयावृत्यः– शरीर व अन्य उपयोगी वस्तुओं से सेवा शुश्रुषा करना वैयावृत्य है।

स्वाध्यायः– आलस्य का त्याग कर ज्ञानाभ्यास करना स्वाध्याय है।

व्युत्सर्गः– अहंकार ममकार बुद्धि का त्याग करना व्युत्सर्ग है।

ध्यानः– चित्त की चंचलता को रोककर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तन में लगाना ध्यान है।

स्वास्थ्य लाभ के लिये भी डाक्टर बाह्य तपों जैसा काम मरीज को बताता है। पहली बात तो यह है कि डाक्टर मरीज से कहता है कि डाइजेशन ठीक नहीं है जरा एकाध उपवास कर लो। उपवास के बाद कहा जाता है कि जरा सावधानी से भोजन करना, एकदम नहीं टूट पडना। भूख से कुछ कम ही लेना। तीसरी बात पथ्य आदि हो तो ही लेना अन्यथा नहीं लेना। और उसमें भी ध्यान रखना कि विरुद्ध प्रकृति वाले रसों को एक साथ नहीं लेना। इस तरह से व्यवस्थित भोजनकर जरा एकान्त में शान्तचित्त बैठना, विश्राम करना और शरीर से ममता भाव हटाना यह कार्य हमें बहिरंग तपों का बोध देते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने हेतु जब इतना आवश्यक है तो आन्तरिक शुद्धि में इनकी अनिवार्यता क्यों नहीं होगी।

तप की इस सारी प्रक्रिया में इच्छाओं की निवृत्ति ही परम प्रयोजन रही है। **सम्यक्त्व की भूमिका में ज्ञानपूर्वक किया गया तप सार्थक होता है और ज्ञान वही सार्थक माना गया है जो तप की आंच में पक गया हो।** आचार्यों ने कहा है कि संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मो का नाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिये तप धारण किया जाता है। पर क्या करें ? मन की इच्छाओं पर विजय पाना आसान बात नहीं है। कामनाओं का कलश तो कभी भरा ही नही जा सकता क्योंकि ऊपर से तो वह बहुत सुन्दर दिखता है पर उसके नीचे कोई आधार (पैंदी) नहीं है। हुआ ऐसा एक बार एक सम्राट के दरबार में याचक आया। वह राजा की दानशीलता को सुनकर ही आया था। था भी राजा साहब का कुछ ऐसा ही नियम कि उनके दरबार से कभी कोई याचक खाली जा ही नहीं पाता था। वर्षो से क्रम चला आ रहा था। इस तरह की दानशीलता से फैली ख्याति में राजा को कुछ

अहंभाव भी आ गया था। इस नये याचक ने आकर अपना कटोरा सम्राट के सामने फैला दिया। सम्राट का इशारा पाकर कुछ स्वर्ण मुद्रायें कटोरे में डाली गईं, पर उसमें तो पता ही नहीं चला कि वह कहां गईं। कुछ और स्वर्ण मुद्रायें डाली गईं उनका भी पता नहीं चला। इस तरह उस कटोरे में ज्यों–ज्यों द्रव्य डाला गया त्यों–त्यों वह कटोरा रिक्त ही बना रहा। सम्राट यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य चकित हुआ। उसे अपनी प्रतिज्ञा टूटती सी दिखी। उस छोटे से कटोरे को भरने राजा ने बहुत सारा द्रव्य डलवाया पर कटोरा खाली ही रहा। यह देखकर राजा का अहंभाव गलने लगा। उसने अत्यंत आश्चर्यचकित होकर याचक से पूछा कि आखिर बात क्या है ? इस कटोरे का रहस्य क्या है ? मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि आखिर यह बना किस धातु का है ? भिखारी ने हंसते हुये बस इतना ही कहा कि राजन् ! यह कटोरा मानव–मन से बना हुआ है जिसे भर पाना कभी संभव है ही नहीं। बस क्या था राजा की आंखे खुल गईं और वह कल्याण के मार्ग में लग गया। सच ही कहा है तृष्णा की खाई खूब भरी पर रिक्त रही वह रिक्त रही। इसी आशय का एक श्लोक आता है –

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, तपो न तप्तः वयमेव तप्ता।
कालो न यातो वयमेव याता तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।।

भोग नहीं भोगे गये बल्कि हम ही भोगे गये तप नहीं तपा गया किन्तु हम ही तपे गये। काल नहीं बीता किन्तु हम खुद ही बीत गये और तृष्णा जीर्ण नहीं हुई बल्कि हम ही जीर्ण जर्जर हो गये।

बंधुओ ! इस संसार में जन्म लेकर जिन्होंने तप के मार्ग को अपनाया है सचमुच ही उन्होंने अपने नरभव को सार्थक किया है। उनका इस संसार में बड़ा प्रबल पुरुषार्थ माना गया है। यह शरीर तो एक बर्तन की तरह है जिसे साधन बनाना पड़ता है

साध्य तो कुछ और ही है। जैसे दूध को गर्म करने के लिये बर्तन का आलम्बन लिया जाता है पर प्रयोजन तो दूध को गर्म करने का है। अब **दुविधा तो ये है कि कुछ लोग बर्तन को गर्म किये बगैर ही दूध को गर्म करना चाहते हैं। क्या यह संभव है ? और कुछ हैं कि जो बर्तन में ही उलझे हुये हैं, दूध की तरफ जिनका ध्यान ही नहीं है। भूल में दोनों हैं।** महावीर ने तप के मार्ग में कहा है कि दूध को तपाने बर्तन का आलम्बन अनिवार्य है। मजे की बात तो इसमें यह भी है कि दूध बाद में गर्म होता है बर्तन पहले तपने लगता है। हमें अन्तरंग में आत्मतत्त्वरूपी दूध को शुद्ध करने शरीर रुपी बर्तन को साधना में खपाना ही होगा। तप की अग्नि में तपाना ही होगा। बहुत पहले पंक्तियां लिखी थीं –

आज गुरुओं के बिना भी ज्ञान हो रहा है
अस्तित्व के बिना भी अभिमान हो रहा है
सन्तों का बीत गया सारा जीवन जंगलों में
और कुछ लोगों को एयरकण्डीशन में ध्यान हो रहा है

इस तरह से तप धर्म की महिमा को समझकर हमें सिर्फ उसकी पूजा प्रशंसा और जय जयकार ही नहीं करना बल्कि उस मार्ग पर आगे बढ़ना भी है। धर्म का सच्चा अधिकारी तो वही माना जाता है जिसने इस मार्ग पर चलना शुरु कर दिया है। इसलिये किसी कवि ने लिखा भी है –

हिम पर हक है गलने वालों का
पथ पर हक है चलने वालों का।
दीपक पर अधिकार है सभी का
लौ पर हक है जलने वालों का।।

ऐसे उस परम तपस्या के मुक्ति–मार्ग पर बढ़ने वाले वे महामुनिराज पांडव, गजकुमार, सुकुमाल सुकौशल आदि धन्य हैं जिन्होंने दुर्धर उपसर्ग सहन कर सकल सिद्धियों के आधार स्वरूप तप धर्म की आराधना की। ❑

त्याग

❑ णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।। (बा.अणु.)

अर्थः— जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीन परिणाम रखता है उसके त्याग धर्म होता है।

❑ संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। (सर्वार्थसिद्धि ६/६)

अर्थः— संयत के योग्य ज्ञानादि का दान करना त्याग है।

❑ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। (त.सू. ७/३८)

अर्थः— अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

❑ दातृपात्रविधिद्रव्य – विशेषात्तद् विशिष्यते।
यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमि समाश्रयात्।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— जिस प्रकार मेघ से बरसा हुआ पानी भूमि के आश्रय से विशिष्ट हो जाता है उसी प्रकार दाता, पात्र, विधि और द्रव्य की विशेषता से वह दान विशिष्ट हो जाता है।

❑ गौरवं प्राप्यते दानात् न तु वित्तस्य संग्रहात्।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां पयोधीनामधः स्थितिः।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— धन के देने से गौरव प्राप्त होता है संग्रह से नहीं। मेघों की उच्च स्थिति देने से है और समुद्र की नीचे स्थिति संग्रह से है।

❑ कृपणेन समोदाता न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— कृपण के समान दाता न हुआ है और न होगा, जो धन को छुये बिना ही दूसरों के लिए देता है।

❑ **चत्वारो वित्तदायादा धर्मचौराग्नि–भूभुजः।**
धर्मेऽपमानिते पुंसि त्रयः कुप्यन्ति सादराः।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– धन के चार दायाद (उत्तराधिकारी) हैं १. धर्म, २. चोर, ३. अग्नि और ४. राजा। इनमें धर्म का अपमान होने पर आदर से सहित शेष तीन, पुरुष पर कुपित हो जाते हैं। भाव यह कि जो धन को धर्म में नहीं लगाते हैं उनके धन को चोर अग्नि और राजा नष्ट कर देते हैं।

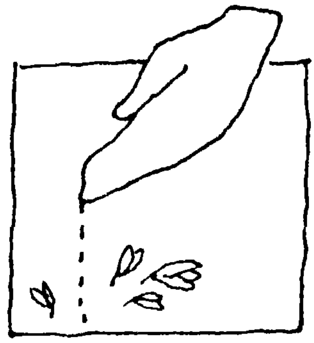
❑ **क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।**
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।।(रत्न.श्रा)

अर्थः– जिस प्रकार समय पर पृथ्वी में बोया गया बट का छोटा सा बीज बहुत भारी छाया के विभव और इष्ट फल को फलता है। उसी प्रकार समय पर पात्र के लिए दिया गया थोड़ा सा दान बहुत भारी कान्ति के विभव और इष्ट फल को फलता है अर्थात् देता है।

❑ **उत्पादिता स्वयमिमं यदि तत्तनूजा,**
तातेन वा यदि तदा भगिनी खलु श्रीः।
यद्यन्यसङ्गमवती च ततः परस्त्री,
तत्त्यागबद्धमनसः सुधियस्ततोऽमी।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– यदि लक्ष्मी को स्वयं उत्पन्न किया है तो वह पुत्री है। यदि पिता के द्वारा उत्पन्न की गई है तो बहिन है और यदि अन्य मनुष्यों के संग से सहित है तो परस्त्री है, यह विचार कर ही ये बुद्धिमान मनुष्य उस लक्ष्मी का त्याग करने में दत्तचित्त रहते हैं। ❑

उत्तम त्याग



त्याग हमारी आत्मा को स्वस्थ और सुन्दरतम बनाता है। त्याग का संस्कार हमें प्रकृति से ही मिला है। वृक्षों में पत्ते आते हैं और झर जाते हैं, फल लगते हैं और गिर जाते हैं। गाय अपना दूध स्वयं छोड़ देती है गाय यदि अपना दूध न छोड़े तो अस्वस्थता महसूस करती है। मनुष्य अपना मल विसर्जन कर स्वस्थता ताजगी का अनुभव करता है। यह सारे उदाहरण हमें यह प्रेरणा देते हैं कि त्याग एक ऐसा धर्म है जिसके बिना हमारा जीवन भारी कष्टमय बन जाता है। राग स्निग्ध है, चिकना है, इसी की वजह से हम वस्तुओं का संग्रह करते रहते हैं। त्याग हमें परिग्रह से मुक्ति दिलाता है। आचार्यों ने कहा है कि हमें बाहरी वस्तुओं के त्याग के साथ भीतरी कषायों को भी कृश करना चाहिये। ममत्व को घटाकर परिणामों में निर्मलता का आना ही त्याग का प्रयोजन है। अन्तरंग में जहर रहते हुये मात्र बाहर से छोड़ी गई सर्प की केचुली त्याग का सच्चा स्वरूप नहीं है। हां यह बात भी समझना अत्यन्त जरूरी है कि चावल की अन्तरंग लालिमा का हटाना धान्य का ऊपरी छिलका हटाये बगैर सम्भव नहीं है। सन्त सर्वारम्भ परिग्रह के त्यागी होते हैं किन्तु गृहस्थ इसी त्याग की शिक्षा दान के रूप में ग्रहण करता है। वह चतुर्विध संघ के लिये आहार, औषधि, अभय और उपकरण का दान करता है। आवश्यकता वश पात्र अपात्र का भेद किये बिना करुणादान भी करता है। दान के क्षेत्र में पात्र का विचार इसलिये करना पड़ता

है क्योंकि वह फल प्रदान करता है। उर्वराभूमि में समय पर डाला गया एक छोटा सा बीज जैसे कालान्तर में अपरिमित फल को प्रदान करता है उसी प्रकार सत्पात्र को विधि द्रव्यादि की विशेषता लिये दिया गया अल्पदान भी समय पाकर अनन्त फल को प्रदान करता है। पर वही बीज यदि बंजरभूमि में डाल दिया जाय तो व्यर्थ ही चला जाता है। उसकी सार्थकता नहीं है। इस प्रसंग में सबसे जरूरी समझने की बात तो यह है कि दान और त्याग में बडा फर्क है। दान, अपने लिये बहुत कुछ बचाकर ही शेष का किया जाता है जबकि त्याग सर्वस्व को छोड़ देने का नाम है। इसलिये दान से भी बढ़कर त्याग है। त्याग ही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। दान तो परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है। यद्यपि दान में भी आसक्ति भाव घटता है पर त्याग तो विरक्ति की उत्कृष्ट दशा का नाम है। इसे हम ऐसा समझ सकते हैं कि **बुखार को दूर करने के लिये दान ऊपर से लगाये गये लेप के समान है जबकि त्याग अन्दर पिये जाने वाले काढ़े के समान है। दान ऊपर–ऊपर से खौंटी जाने वाली पौधों की पत्तियाँ हैं जबकि त्याग जड़ से ही उखाड़कर पौधों को अलग करना है। इसलिये दान प्रशंसनीय तो है पर पूज्य नहीं है, पूज्य तो त्याग ही है। राग की नहीं, भारत में त्याग की पूजा हुई है आज तक।** यहां रागी को नहीं किन्तु त्यागी को सम्मान मिला है। यहां की संस्कृति ने हमेशा त्यागियों की गौरव गाथा गाई है, भोगियों की नहीं। प्रभु आदिनाथ और योगीश्वर वाहुबली हमारे आराध्य बने हैं न कि परिग्रह के साथ रहने वाले चक्रवर्ती भरत और राजा श्रेयांश। हां यह बात पृथक् है कि परिग्रह का त्याग करने पर इन्होंने भी पूज्यता प्राप्त की। इस बात को एक उदाहरण के माध्यम से हम भली भांति समझ सकते हैं ... एक साधु जी थे, उन्होंने घर गृहस्थी आदि परिग्रह को छोड़कर

निराकुलता का मार्ग अपनाया था। उनका भक्त एक सेठ भी उनकी ज्ञान की बातें सुनने आया करता था। भक्ति निष्ठा रहने के साथ साथ वह तर्क–वितर्क भी खूब करता था। एक दिन बोला–बाबा जी आपको सब कुछ छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। थोड़ा बहुत तो अपने पास में रखना था, जरूरत पर काम आता है। देखो न, मैं अपने पास रखे हूं कभी किसी की ओर हाथ नहीं फैलाना पड़ता इसलिये पूर्णतः त्याग नहीं करना था आपको। साधुजी बोले – ऐसा नहीं है, शांति और निराकुलता, त्याग मार्ग में ही सम्भव है। दिन बीते दोनों की तत्त्व चर्चायें नियमित चलती रहीं। संयोगवश दोनों को एक बार दूसरे गांव जाना पड़ा। बीच में नदी पार करना थी। जैसे ही नाव के पास पहुंचे, नाविक बोला चार–चार आना लगेंगे। साधु जी के पास तो थे नहीं अतः वह सकुचा गये। पर सेठ जी को तो मानो कहने का मौका ही मिल गया – बोले, चलो बैठो बाबा जी हम पार करा देते हैं। दोनों नाव में बैठे, नदी पार हुये। आगे रास्ते में चलते हुये सेठ जी ने व्यंग की भाषा में कहा – साधुजी यदि आज हम पैसे न रखे होते तो नदी कैसे पार कर पाते। देख लिया आपके त्याग का प्रभाव। आपका त्याग जब इतनी सी नदी पार नहीं करा सका तो संसार के सागर को कैसे पार करायेगा ? साधुजी ने प्रसंग की गंभीरता को समझते हुये तुरन्त उत्तर दिया कि अरे भाई ! यदि आप अपने पैसे अपने ही पास रखे रहते तो कैसे पार करते ? जब आपने उतने पैसों का त्याग किया तभी न नदी पार हुये। अतः पार त्याग ही करा सकता है न कि संग्रह। देखा गया है कि जिस तालाब में पानी आने का द्वार हो और निकलने का द्वार न हो तो उसका हाल क्या होता है ? किसी कवि ने कहा है

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।

धन की तीन ही गति मानी गई हैं – दान, भोग और नाश। किसी को दे दिया, परोपकार सेवा में लगा दिया तो ठीक, उसका उपभोग कर लिया तो ठीक अन्यथा नाश तो होना ही है। हिन्दी पूजा में कहा गया है –

निज हाथ दीजे साथ लीजे
खाय खोया बह गया

जो देता है वह पाता है, जो संग्रह करता है उसका सब यहीं पड़ा रह जाता है। बादलों ने पानी दिया इसलिये वह ऊपर हैं किन्तु समुद्र ने संग्रह किया इसलिये वह नीचे है। जो दिया जाता है वह कीमती स्वर्ण सा हो जाता है किन्तु जो संग्रह कर लिया जाता है वह मूल्यहीन माटी का रह जाता है। एक कहानी है–राज्य पर संकट आया हुआ जानकर राजा ने ज्योतिषी से उसके निवारण का उपाय पूछा। ज्योतिषी ने कहा राजन् संकट का निवारण तो हो सकता है पर आपको प्रातःकाल राजपथ पर भीख माँगने के लिये निकलना होगा और जो भी भिखारी याचक तुम्हें सबसे पहले रास्ते में मिले उससे भिक्षा मांगनी होगी। भिक्षा में जो भी मिले उसे लाना और महलों में सुरक्षित रख देना, वही तुम्हारे राज्य संकट के निवारण में कारण होगा। राजा रात भर बेचैन रहा, सम्राट और याचक बनकर निकले। जिसने हमेशा फैले हुये हाथों को दिया है आज वही हाथ फैलाये। पर करे भी क्या, पूरे राज्य की सुरक्षा का प्रश्न था। पूरी मानसिकता बनाकर राजा सुबह–सुबह अपने रथ में आरूढ़ होकर राजपथ पर निकला। यहाँ एक भिखारी के मन में आया कि वर्षों बीत गये भीख मांगते–मांगते पर आज तक पूर्ति नहीं हो पाई। क्यों न हो आज राजा के दरबार में चला जाये और सम्राट के सामने हाथ फैला दिये जायें ताकि कुछ ऐसा मिले जिससे यह भीख मांगना हमेशा–हमेशा के लिये छूट जाये। आज भिखारी भी पूरा मन बनाकर राजदरबार

की ओर आगे बढ़ा है। अपनी झोली में थोड़े से दाने घर से ही डालकर वह सुबह–सुबह निकला है। भिखारी बहुत कुछ पाने के सुखद स्वप्न में खोया हुआ सा आगे बढ़ रहा था तभी अचानक कोलाहल सा सुनाई दिया। सामने देखा तो प्रातःकालीन सूर्य किरणों में चमचमाता हुआ राजा का रथ चला आ रहा था। अरे ! सम्राट का रथ स्वयं आ रहा है। अहोभाग्य है मेरा, मैं तो उनके दरबार जा रहा था पर आज तो सम्राट स्वयं मुझे रास्ते में मिल गये। बस आने दो पास में रथ, मैं फैला दूंगा हाथ और मांग लूँगा सम्राट से ताकि हमेशा हमेशा इस मांगने से छुटकारा मिल जाये। भिखारी सड़क के किनारे खड़ा होकर यह सोच ही रहा था कि रथ आकर एकदम सामने रुक गया। भिखारी कुछ सम्हले, कुछ कहे इसके पहले ही वह देखता है कि राजा रथ से उतरा और भिखारी के सामने हाथ फैला दिये। राज्य संकट का प्रश्न है, भिक्षा में कुछ मिल जाय ताकि संकट निवारण हो। भिखारी तो हक्का बक्का रह गया, उसे कुछ समझ ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा और वह क्या करे ? वह तो कुछ और ही सोच रहा था पर यहाँ तो खुद सम्राट ही मांग रहा है अब भिखारी क्या करे ? जिसने कभी कुछ न दिया हो और देने की स्थिति बन जाये तो उसकी दशा आप स्वयं समझ सकते हैं। भिखारी की स्थिति भी वही थी। उसके तो मानो होश ही उड़ गये। राज परिकर के साथ पूरे वैभव से सम्राट स्वयं भिखारी के सामने याचक बन रहा है। सोचने का कुछ वक्त भी नहीं था सो भिखारी ने भारी मन से झोली में हाथ डाला और कम करते–करते सिर्फ एक दाना राजा के हाथ पर रख दिया। राजा ने उसे लेकर मुट्ठी बन्द की और रथ धूल उड़ाता हुआ महल की ओर बढ़ गया। यहाँ भिखारी की दशा तो ऐसी हो गई जैसे उसका सब कुछ लुट गया हो। सम्राट आया, मांगना तो दूर रहा स्वयं अपना ही उसे देना पड़ा। दुःखी भारी मन

से भिखारी ने जगह–जगह भीख मांगी। भरपूर उसे भीख मिली भी। आज सबसे ज्यादा उसे भीख मिली पर एक दाना देने का दु:ख तो बना ही रहा। शाम को घर लौटा, उदासमना उस भिखारी ने जैसे ही अपनी भरी हुई झोली को उडेला तो छाती पीट–पीटकर रोने लगा। क्योंकि उन सारे दानों में उसे केवल एक ही स्वर्ण का दाना दिखा। भिखारी को समझते देर न लगी। उसने पत्नि से बस इतना ही कहा कि काश ! यदि सम्राट को ये सारे दाने दे देता तो मेरे सारे दाने स्वर्ण के हो जाते। **बस बंधुओ ! दिया गया ही स्वर्ण का होता है पास में रखा हुआ तो माटी का माना गया है।** यह त्याग मानव का जीवन है, आभूषण है एवं सुख शांति तथा उन्नति का मार्ग है। आज भी इतिहास में राजा श्रेयांश, दानवीर कर्ण और भामाशाह जैसे महानुभावों का उदारमना दान का, आदर्श आदर भावना से देखा जाता है।

❑

❑ **अधिगम्य कृते दानं त्रेतायां गृहमागते।**
द्वापरे प्रार्थना दानं सेवा दानं कलौयुगे।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– अमुक व्यक्ति को अमुक वस्तु की आवश्यकता है यह जानकर कृतयुग में दान किया जाता था। त्रेता युग में घर आने पर दान दिया जाता था। द्वापर युग में प्रार्थना करने पर दान दिया जाता था और अब कलयुग में सेवा कराने के बाद दान दिया जाता है।

❑ **शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।**
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः– सौ में शूरवीर एक ही होता है, हजार में एक पण्डित होता है, दस हजार में एक वक्ता होता है और दाता हो न भी हो।

आकिञ्चन्य

❑ **होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।**
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं।। (बा.अणु.)

अर्थः– जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख–दुःख के देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोककर निर्द्वन्दता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

❑ **उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धि निवृत्तिराकिञ्चन्यम्। नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्।** (सर्वार्थसिद्धि ६/६)

अर्थः– जो शरीरादि उपात्त हैं उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिये यह मेरा है इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है। जिसका कुछ नहीं है वह अकिञ्चन है और उसका भाव या कर्म आकिञ्चन्य है।

❑ **अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।**
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि।। (समयसार)

अर्थः– मैं अकेला हूँ, शुद्ध हूँ, आत्मरूप हूँ, मैं ज्ञानवान् और दर्शनवान् हूँ, मैं रूप, रस, गंध और स्पर्श रूप नहीं हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

❑ **सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ।**
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्टी वि तं लहई।।(स.सु.)

अर्थः– सम्पूर्ण ग्रन्थ (परिग्रह) से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्तिसुख पाता है वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता।

❑ **णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।**
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।। (स.सु.)

अर्थः– वह (आत्मा) निर्ग्रन्थ (ग्रन्थिरहित) है, नीराग है, निशल्य (निदान, माया और मिथ्यादर्शनशल्य से रहित है) सर्व–दोषों से निर्मुक्त है, निष्काम (कामनारहित) है और निःक्रोध, निर्मान तथा निर्मद है।

❑ **को णाम भणिज्ज बुहो, णाउं सव्वे पराइये भावे।**
मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं।।(स.सा.)

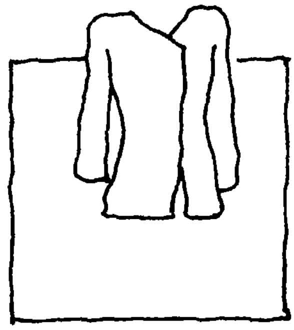
अर्थः– आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला तथा परकीय (आत्म–व्यतिरिक्त) भावों को जानने वाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो यह कहेगा कि यह (पर पदार्थ) मेरा है।

❑ **अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।**
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।।(आत्मा.)

अर्थः– हे भव्य ! तू, मेरा कुछ भी नहीं हैं, ऐसी भावना के साथ स्थित हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी(सिद्ध परमेष्ठी) बन जावेगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है जो कि केवल योगियों के द्वारा ही प्राप्त करने योग्य है।

❑

उत्तम आकिञ्चन्य



आकिञ्चन्य धर्म आत्मा की उस दशा का नाम है जहां पर बाहरी सब कुछ तो छूट ही जाता है किन्तु आन्तरिक संकल्प विकल्पों की परिणति को भी विश्राम मिल जाता है। बाह्य परित्याग के बाद भी मन में **"मैं और मेरेपन"** का चक्र निरन्तर चलता रहता है जिससे आत्मा बोझिल होती है और मुक्ति की ऊर्ध्वगामी यात्रा नहीं कर पाती। पहाड़ की चोटी तक पहुंचने के लिये जैसे हमें भार रहित हल्का होना जरूरी है उसी प्रकार सिद्धालय की पवित्र ऊँचाईयां पाने के लिये हमें आकिञ्चन्य एकदम खाली होना आवश्यक है। तुम्बी के पास यद्धपि पानी में तैरने की क्षमता है किन्तु मिट्टी का लेप लगने पर जैसे वह भारी होकर पानी के तल में चली जाती है। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा संकल्प विकल्प रूप कर्तृत्व भावों से संसार सागर में डूबती रहती है। **परिग्रह का परित्याग कर परिणामों को आत्मकेन्द्रित करना ही आकिञ्चन्य धर्म की भाव धारा है जिसमें विचार किया जाता है कि –**

एगो मे सासदो आदा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा।।

मैं एक शाश्वत् आत्म तत्त्व हूं, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूं, मेरे अलावा जो कुछ भी है वह सब बाहरी भाव हैं तथा संयोग लक्षण वाले हैं।

हमें इस प्रसंग में एक बात समझना अत्यन्त जरूरी है कि संयोग अलग होता है और साथ अलग होता है। यहां पर जिन

माता पिता, पत्नि और पुत्र मित्रादिकों को लेकर जो संगी साथी का विचार किया जाता है वह वास्तव में साथी नहीं बल्कि संयोगी हैं। पुण्य से इन सबका संयोग प्राप्त हुआ है लेकिन साथ तो हमारे धर्म ही जा पाता है। इसी बात को बारह भावना में कहा गया है

आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय।
यूं कबहु इस जीव को साथी सगा न कोय।।

इस तरह यह अकेलेपन का अहसास ही हमें आकिञ्चन्य धर्म की ओर ले जाता है। जो कि राग, द्वेष और वीतराग के भेद से तीन तरह से होता है। पहला तो तब जबकि घर से शादी के बाद बेटी की विदा की हो और फिर सारा घर सूना–सूना सा लगता हो। या अपना बेटा कहीं दूर पढ़ने गया है। या गुम गया है तो सब कुछ खाली–खाली सूना–सूना सा लगता है। यह राग की दशा में किया गया एकाकीपन का अहसास है। दूसरा तब जब घर में आपस मे पति पत्नि के बीच मनोमालिन्य हो जाये और बात इतनी बिगड़ जाये कि बोलना भी बन्द हो जाये, गुमसुम चुपचाप अपना काम करते रहें, तब भी एकाकीपन सा लगता है। पर यह द्वेष की दशा में है। किन्तु एक तीसरी भूमिका बनती है वीतराग दशा की जिसमें इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग की स्थिति नहीं अपितु स्वस्थ तत्त्व चिन्तन, वास्तविकता की पहचान है। इसी अनुभूति मे उतरना आकिञ्चन्य धर्म का अभिप्रेत है। हमारे पास बाहर से परिग्रह का भार फिर भी कम है किन्तु भीतरी विकल्प विचारों का व्यर्थ का भार इतना लदा हुआ है कि हम एकत्व स्वरूप आत्मा का आनन्द ही नहीं ले पा रहे हैं। आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के जीवन का प्रसंग है। एक बार वह विहार करते हुये दोपहर को किसी अन्य धर्मी साधु की कुटिया के पास ठहरे। श्रावकों ने कुछ देर रुकने के लिये वहां व्यवस्था की थी। कुटिया में साधु अकेला ही रहता था, वह महाराज से बड़ा प्रभावित हुआ

और फिर आचार्य महाराज को कुछ दूर तक छोड़ने भी गया। चलते–चलते अन्य चर्चाओं के साथ ही उसने अपनी कुटिया के बारे में भी पूछा कि महाराज आपको मेरी कुटिया कैसी लगी ? बड़ी अच्छी थी न। महाराज क्या जवाब देते, सुना और दूसरी चर्चायें करते रहे। पर इसे कहां चैन। थोड़ी देर में पुनः पूछ ही लिया–महाराज बताओ न कुटिया कैसी लगी। अबकी बार महाराज बोले भाई जब इतना सब कुछ घर बार छोड़ दिया है तो इस कुटिया में क्यों उलझे हो ? इतना सुनना था कि वह साधु तेजी के साथ गया और कुटिया में आग लगा दी। धू धू कर कुटिया जल गई। पुनः तेजी से दौड़कर आया और बोला महाराज मैं तो कुटिया जला आया। साथ चलते चलते अन्य चर्चायें करता रहा पर बीच में फिर पूछ बैठा महाराज कम से कम एक बार तो बता दो कि कुटिया कैसी थी ? महाराज मुस्कुराये और बोले अरे ! बाहर की कुटिया तो जला दी अब मन की कुटिया और जला दो। बस यही है आकिञ्चन्य धर्म की निर्विकल्प दशा। बंधुओ ! हमें अपना जीवन वीतरागी और निर्विकल्प बनाना चाहिये इस अवस्था को पाने के लिये सभी तरह से बाहरी परिग्रह सम्बन्धों का त्याग अनिवार्य है।

जो जितना हल्का होता है वह उतना उतना ऊपर उठता जाता है। इस बात को तराजू स्वयं दर्शाती है उसका खाली पलड़ा हमेशा ऊपर की ओर जाता है किन्तु वजनदार भारी पलड़ा नीचे की ओर ही जाता है, अपना अधः पतन करता है। अतः हमें अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिये इस धर्म को अपनाना चाहिये। एक बार की बात है – एक व्यापारी शिष्य अपने गुरुवर से आशीर्वाद लेकर दूर देश व्यापार करने जा रहा था, जाते समय आशीर्वाद के साथ साथ जीवन रक्षा के लिये कुछ गुरुमंत्र भी चाहा। गुरुवर ने बस इतना ही कहा कि खाली पीका (कनस्तर)

अपने साथ रखना। ठीक है कहकर शिष्य ने नमस्कार किया और चल दिया। समुद्री रास्ता पार कर उसने घूम घूमकर खूब धन कमाया। वापस आने का वक्त हुआ तो उसने सारी सम्पदा पीकों (कनस्तर) में भर ली किन्तु ख्याल आते ही साथ में एक पीका खाली भी रख लिया। समुद्री मार्ग से जहाज अपने देश वापस आ रहा था। रास्ते में अचानक तूफान आया और जहाज डगमगाने लगा, नौबत यह आ गई कि उसे सम्हालना मुश्किल हो गया। तभी सूचना दी गई कि यदि जान बचाना है तो शीघ्र अपना आवश्यक सामान लेकर जहाज को खाली कर दो। समुद्र में कूदकर पार होने का विचार इस व्यापारी ने भी किया। मन में आया ये बेशकीमती रत्न साथ रहेंगे तो आगे का जीवन ठीक से चल जायेगा। एक बार सारी सम्पदा को देखा, अपने परिश्रम को याद किया और वह भूल गया गुरु का मंत्र। उसने बहुत कीमती रत्नों से भरा एक वजनदार पीका लिया और समुद्र में कूद गया। फिर क्या था ? उसी वजनदार भरे हुये पीके के साथ ही वह नीचे चला गया। आज यदि वह अपने गुरु का मंत्र याद कर खाली पीका अपने साथ रखता तो इस संकट के समय वह अपनी जीवन रक्षा कर किनारे से लग जाता। बस इस धर्म का उपदेश इतना ही है कि भारी जीवन नहीं किन्तु आकिञ्चन्य खाली जीवन ही पार हो सकता है इस संसार के सागर से। हम भी पर्वराज पर्यूषण में इन दश धर्मों की आराधना करते हुये उस परम आकिञ्चन्य की दशा को प्राप्त करें जो साक्षात् मुक्ति का द्वार माना गया है। ❑

संगी-साथियों की बात तो दूर है
मैं-मेरा और तूं-तेरा की सूक्ष्म परिणति भी
आत्मा को भारी बनाती है
खाली और हल्केपन की इस ऊर्ध्वगामी यात्रा में
आकिञ्चन्य अकेली आत्मा ही मुक्ति पाती है

ब्रह्मचर्य

❑ सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं सुक्करि खलु दुद्धरं धरदि।। (बा.अणु.)

अर्थः– जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सुंदर अंगों को देखकर भी उनमें राग रूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है।

❑ **अनुभूताङ्गनास्मरण कथा श्रवण स्त्री संसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। (सर्वार्थसिद्धि ६/६)**

अर्थः– अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से, स्त्री विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री के साथ सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है।

❑ मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम्।
स्त्रीकथादिनिवृत्तिर्या ब्रह्म स्यात्तन्मतं सताम्।।
(स. श्लो.सं.)

अर्थः– वृद्धा, तरुणी और बाला इन तीन प्रकार की स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री के समान देखकर स्त्री विषयक कथा आदि का जो त्याग करना है वह सत्पुरुषों का अभिमत ब्रह्मचर्य है।

❑ मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्ड मृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कंदर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः।।(स. श्लो.सं.)

अर्थः– पृथ्वी पर कितने ही मदोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थल चीरने में वीर हैं, और कितने ही शक्तिशाली सिंहों का वध करने में चतुर हैं परन्तु मैं बलवान् मनुष्यों के आगे हठपूर्वक कहता हूं कि काम का गर्व खण्डित करने में विरले ही मनुष्य समर्थ हैं।

❑ **जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।**
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं।। (स.सु.)

अर्थः— जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम–भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

❑ **जीवो बंभ जीवम्मि, चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।**
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।। (स.सु.)

अर्थः— जीव ही ब्रह्म है। देहासक्ति से मुक्त मुनि की ब्रह्म (आत्मा) के लिए जो चर्या है, वही ब्रह्मचर्य है।

❑ **सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।**
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।(समयसार)

अर्थः— काम भोग और बंध की कथायें सभी जीवों के श्रुत हैं, परिचित हैं और अनुभूत हैं परन्तु पर पदार्थों से पृथक् एकत्व विभक्त आत्मतत्त्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है।

❑ **एदम्हि रदोणिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।**
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।। (समयसार)

अर्थः— हे भव्य ! तू निरन्तर इस ज्ञान में रत हो, इसी में निरन्तर संतुष्ट रह, इसी से तृप्त हो क्योंकि ऐसा करने से ही तुझे उत्तम सुख होगा।

❑ **सद्ब्रह्मचर्यव्रतरक्षणान्नरः,**
कान्तामनोज्ञः कमनीयमूर्तिभाक्।
सज्ज्ञानदृगवीर्यसुखैकसागरः,
सुसिद्धिवध्वानन्–रत्नदर्पणः।।(स.श्लो.सं.)

अर्थः— ब्रह्मचर्य की रक्षा करने से मनुष्य, स्त्री के लिये प्रिय, सुन्दर शरीर का धारक, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, वीर्य और सुख का अद्वितीय सागर तथा मुक्तिरूपी वधू के मुख के लिये रत्नमयदर्पण स्वरूप होता है।

❑

उत्तम ब्रह्मचर्य



आत्मा ही ब्रह्म है उस ब्रह्म स्वरूप आत्मा में चर्या करना, रमण करना सो ब्रह्मचर्य है। असल में हमारी ऊर्जा इन्द्रिय द्वारों से निरन्तर बाहर की ओर बह रही है जिससे हम क्षीण कमजोर हो रहे हैं। ब्रह्मचर्य उस ऊर्जा को केन्द्रित कर आत्म स्फूर्ति प्रदान करता है। तेजस्विता और बल प्रदान करता है। सहज बहते हुये पानी में ज्यादा शक्तियां नहीं रहती हैं, पर जब वही पानी बांध बनाकर रोक लिया जाता है तो उसमें शक्तिशाली विद्युत का उत्पादन हो जाता है। पहली बात तो बहते हुये पानी को रोका जाय और दूसरी बात रुके हुये पानी को परिवर्तित कर पावर का रूप दिया जाय। इस संदर्भ में एक बात और समझने जैसी है कि पानी कभी रुकता नहीं वह निरन्तर गतिमान रहता है। बांध से रुके हुये पानी में लगता जरूर है कि पानी रुका है पर सत्यता यह है कि आगे न बहकर वह पानी ऊपर की ओर बढ़ने लगा है। पानी की तरह ही काम की गति है इसे बाह्य संयम के द्वारा रोककर ऊपर की ओर बढ़ाया जाता है अर्थात् **काम के रूप में बहती हुई ऊर्जा को ब्रह्मचर्य के ऊर्ध्वमुखी उपयोग से राम की शक्ति में परिवर्तित किया जाता है।** यही एक ऐसा धर्म है जो हमारे बहिर्मुखी जीवन को अन्तर्मुखी करता है। बाहर के तमाम रस रूप गन्ध स्पर्श और साज संगीत को फीका करके अरूपी अस्पर्शी अतीन्द्रिय आत्म तत्त्व की सौंदर्यानुभूति यह धर्म करा देता है। धर्म में लगा हुआ उत्तम विशेषण इसी आध्यात्मिक गहराई का

परिचायक है। इस परम ब्रह्मचर्य के जब व्यवहारिक पक्ष का कथन किया जाता है तो मैथुन कर्म से विरत होने को ब्रह्मचर्य कहा गया है। जैसा कि आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में "**मैथुनमब्रह्म**" सूत्र लिखकर ब्रह्म और अब्रह्म का अर्थ स्पष्ट किया है। काम भाव की पूर्ति के लिये रागान्वित होकर स्त्री पुरुष जो रति कर्म करते हैं उसी क्रिया का नाम मैथुन है और इस मैथुन को ही अब्रह्म कहा गया है। इसी मैथुन कर्म के त्याग का नाम ब्रह्मचर्य है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा है –

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्ध बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः।।

मल से उत्पन्न, मलिनता का कारण, मलमूत्रादि को झराने वाले दुर्गन्ध से सहित और ग्लानि को उत्पन्न करने वाले इस शरीर को देखता हुआ जो कामसेवन से विरत होता है वह ब्रह्मचर्य का धारी माना गया है। मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना रूप नवकोटि से विशुद्ध यह ब्रह्मचर्य परम सुखशांति का स्रोत है। इसी से निराकुलता का जीवन जिया जा सकता है। शुरुआत की दशा में गृहस्थ को स्वदार सन्तोष व्रत का विधान है। अपनी पत्नि में या अपने पति में ही सन्तुष्ट रहकर शेष सभी के प्रति मां बहिन बेटी अथवा पिता भाई पुत्र का भाव रखना भी ब्रह्मचर्य व्रत ही है। इसे गृहस्थ ब्रह्मचारी की उपमा दी गई है। क्योंकि इसमें भी गृहस्थ अपनी असीमित काम वासनाओं को सीमित कर एक पर ही आश्रित हो चुका है। यह व्यवस्था भारतीय संस्कृति की गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठ व्यवस्था है। इसलिये इसे धर्म विवाह कहा गया है और वंश परम्परा को चलाने के लिये किये गये मैथुन–कर्म को काम पुरुषार्थ की संज्ञा दी है। जिसमें दोनों प्राणी मर्यादित आचार विचारों के बन्धन में बंधकर एक दूसरे के सुख दुख में सहभागी रहते हैं। परिणय शब्द का विश्लेषण करते

हुये पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति पर गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने प्रवचन में एक बहुत गहरा विचार दिया था। आपने कहा कि यहां (भारत में) मेरिज पहले होती है और लव बाद में होता है जबकि पाश्चात्य देशों में लव पहले होता है और मेरिज बाद में। परिणाम यह निकलता है यहां लव रह जाता है मेरिज खो जाती है और वहां मेरिज रह जाती है लव खो जाता है। एक में सिर्फ देह का आकर्षण है उससे जुड़ा हुआ मोह है जबकि दूसरे में जीवन की सहभागिता है, आत्मिक प्रेम, सुख दुख में साथ निभाने का परम नैतिक बन्धन है।

भारतीय संस्कृति में जहां चार आश्रम की व्यवस्था बतलाई गई है उसमें सबसे पहले अध्ययन के काल में ब्रह्मचर्य से रहने का ही विधान है। अध्ययनपूर्ण होने पर या तो सीधा सन्यास या फिर गृहस्थ, कोई भी मार्ग चुन सकते हैं। गृहस्थ आश्रम के बाद जीवन के तीसरे भाग में वानप्रस्थ और अन्तिम भाग में सन्यास लेना अनिवार्य बतलाया गया है। चार आश्रमों की इस सम्पूर्ण व्यवस्था में मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुये उससे निवृत्त कराने का मार्ग बनाया गया है। उत्तरोत्तर उदासीनता से बढ़ते हुये आत्म–सोपान और वीतराग भावों की वृद्धि ही इस व्यवस्था का उद्देश्य है।

संसार के समूचे प्राणिजगत में आहार भय मैथुन और परिग्रह की चार संज्ञायें लगी हुई हैं। प्रसिद्ध विद्वान आशाधर जी ने अपने ग्रन्थ सागार धर्मामृत में लिखा है **"चतुः संज्ञा ज्वरातुरः"** संसार के सारे प्राणि चार संज्ञाओं के ज्वर से पीड़ित हैं। इन्हीं चार संज्ञाओं का ज्वर प्राणि को अस्वस्थ और कमजोर बना रहा है। **स्वस्थ वही माना गया है जो स्व में स्थित हो। संज्ञावान प्राणी अपने स्वभाव में स्थित नहीं माना जाता अतः उसे अस्वस्थ (न स्वस्थः इति अस्वस्थ) कहा जाता है।** चार संज्ञाओं

की अपेक्षा मनुष्य और पशुओं में कोई फर्क नहीं है। फर्क यदि किया गया है तो एकमात्र धर्माचरण की अपेक्षा से। अब यदि जीवन में धर्माचरण नहीं आ पाया तो नीतिकारों ने लिखा है –

"ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति"

कि वे मनुष्य के रूप में विचरने वाले पशु पृथ्वी पर भारभूत ही हैं। बंधुओ ! जीवन का उद्देश्य खाना पीना, मौजमस्ती सिर्फ ऐशो आराम ही नहीं होना चाहिये बल्कि आत्म साधना भी होनी चाहिये। मन और इन्द्रियों की संतुष्टि ही नहीं आत्म संतुष्टि के भी काम करने चाहिये। विषय वासनाओं की पूर्ति तो अनन्त काल से करते आ रहे हैं पर उनकी पूर्ति आज तक हो ही नहीं पाई इसलिये लिखा है –

भोगों को इतना भोग चुका कि खुद को भोग बना डाला।
साध्य और साधन का अन्तर मैंने आज मिटा डाला।।

भोगों में इतने लीन हुये कि साध्य और साधन का अन्तर ही भूल गये। आत्मिक सुख कभी मिला नहीं, मिलेगा भी कैसे ? क्या कभी नीर के मन्थन से नवनीत की प्राप्ति हुई है ? श्वान सूखी हड्डी चबाकर कितना ही माने कि उसे कुछ स्वाद, कुछ सुख मिल रहा है पर वह यह नहीं जानता कि हड्डी चबाने से उसके जबड़े छिल जाते हैं उससे हुये रक्तस्राव के स्वाद को हड्डी से आया स्वाद मानता है। यह उसकी अज्ञानता है, भ्रम है। ज्ञान विवेक के जागृत होने पर जब यह भ्रम भाव टूटता है तो ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

इस धर्म की प्रेरणा देने वाला एक पौराणिक उदाहरण है–प्राचीन समय की बात है जब गुरुकुलों में शिक्षा दी जाती थी। एक बालक जब पढ़कर घर वापस आने को हुआ तो गुरुजी ने कहा गुरु दक्षिणा में कुछ देकर जाइये। बालक ने विनम्रता से कहा आप मेरी ज्ञान साधना से परिचित हैं मेरे योग्य आपका जो

भी आदेश हो उसका पालन करूंगा। गुरु जी ने शुभाशीष देते हुये कहा जाओ कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य से रहना यही तुम्हारी गुरु दक्षिणा होगी। किसी अन्य जगह आश्रम में एक बालिका ने भी अपना अध्ययन पूर्ण किया। घर वापस आने का समय आया तो गुर्वानी से आशीष आदेश लेने वह पहुंची। गुर्वानी ने भी अध्ययन पूर्ण होने पर गुरु दक्षिणा मांगी। उसने भी विनत भाव से कहा मेरे योग्य आपका जो भी आदेश हो मैं पालन करूंगी। इस पर गुर्वानी ने कहा कि जाओ शुक्ल पक्ष में तुम ब्रह्मचर्य से रहना। बात आई गई। गुरु और शिष्यों के बीच की बात किसी को मालूम नहीं थी। दोनों की विवाह के योग्य वय हुई। संयोग कुछ ऐसा घटा कि दोनों के अभिभावकों ने सुशिक्षित उन संस्कारवान बालक बालिका का विवाह सम्बन्ध तय कर लिया। शादी हुई। पर जब समय रतिकर्म का आया तो कन्या ने कहा स्वामिन् ! अभी हमारा शुक्ल पक्ष ब्रह्मचर्य से चल रहा है। कृष्ण पक्ष आने दो। कृष्ण पक्ष आया, पर उस समय बालक ने कहा, नहीं – अभी तो हमारा कृष्ण पक्ष ब्रह्मचर्य से चल रहा है। दोनों ने अपने अपने गुरु दक्षिणा में लिये गये व्रत की बात जब स्पष्ट की तो विधि की विचित्रता का विचार करते हुए उन दोनों ने और भी दृढता से व्रत पालन करने का निश्चय कर लिया। अब क्या था ? जिस उद्देश्य से शादी की गई उस उद्देश्य की पूर्ति तो असम्भव। काफी समय बीत गया। माता पिता को भी जानकारी मिली लेकिन कोई भी अपने व्रत से पीछे हटने वाले नहीं थे। एक दिन समय पाकर पत्नि ने कहा कि स्वामिन् ! मेरा तो ठीक है पर आप दूसरी शादी कर लें ताकि धर्म और वंश की परम्परा चल सके, पर गुरुकुल शिक्षा में तपे हुये उस युवक ने कहा–नहीं, मैंने आपको स्वीकारा है, अब जिस तरह आपका जीवन रहेगा वैसा ही मैं भी जीवन बिताऊंगा। वाह....वाह सद्गुरुओं से प्राप्त शिक्षा का प्रभाव। कितनी दृढ़ता, कितना

सन्तोष। अदभुत् आश्चर्यकारी अपूर्व घटना है यह प्रथमानुयोग की। और फिर वह दोनों गृहस्थ उसी संयम भावना से जीवन यापन करते रहे। अन्त में दीक्षित होकर दोनों ने आत्म कल्याण किया। यह और कोई नहीं विजय सेठ और विजया सेठानी का कथानक है। **धन्य है उन दोनों का जीवन जिन्होंने देह का नहीं देही का सम्मान किया। जिन्होंने सीप का नहीं मोती का, दीप का नहीं ज्योति का सम्मान किया। उनकी प्रीति, उनका प्रेम देहाश्रित नहीं था बल्कि आत्म प्रीति, आत्म प्रेम था।** ऐसा आदर्श उदाहरण शायद ही कहीं सुनने में आया हो। यह है सत् संस्कार और गुरुओं से प्राप्त शिक्षा का प्रभाव। ऐसे अनेकानेक आत्मसाधक हुये हैं जिन्होंने संसार और शरीर के अशुचि स्वभाव को समझकर विरक्ति के मार्ग पर कदम बढ़ाया है। ब्राह्मी सुन्दरी, राजुल, चन्दनवाला, नीली आदि तो अविवाहित अवस्था में ही मुक्ति मार्ग पर बढ़ी हैं पर विवाहित रहकर भी सीता, अंजना, द्रोपदी, मैना सुन्दरी आदि का जीवन भी नारी समाज को अनुकरणीय आदर्श रहा है। इधर पुरुष वर्ग में भी गृहस्थ सेठ सुदर्शन और सेनापति जयकुमार तो प्रसिद्ध हुये ही हैं किन्तु कुमार देशभूषण कुलभूषण, अकलंक निकलंक एवं जम्बूस्वामी के जीवन चरित्र तो हृदय में समाये हुये हैं। अकलंक निकलंक जैसे वीर पुत्रों के बारे में जितना कहा जाय उतना कम है। निकलंक ने तो अपने जीवन की ही कुर्बानी देकर उस विषम वातावरण में जिन धर्म की रक्षा की थी। एक वो समय था और एक आज का समय है जिसमें नैतिक मूल्यों का दिन प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव ने तो हमारे सद्संस्कारों की जडों को ही हिलाकर रख दिया है। फैशन के युग में परिधानों के नाम पर आधुनिक पहनावे में तो मर्यादा का परदा ही उठ गया है। जी.टी. वी., स्टार टी.वी. आदि चैनल तरह तरह के कार्यक्रम देकर मनुष्य

को असंयत बनाने, अग्नि में डाले गये घी जैसा काम कर रहे हैं। इसी का परिणाम है कि आये दिन अपहरण और बलात्कार के समाचार सुनने मिलते रहते हैं। हिंसा, मारधाड आगजनी के कारनामे तो अब आम बात होते जा रहे हैं। व्यक्ति विषय वासनाओं में इतना अन्धा होता जा रहा है कि उसे हिताहित का कुछ भी विवेक नहीं रहा। ऐसे समय में सदाचार और सत्संस्कारों को सम्हालने की महती आवश्यकता है। अपने आराध्य, इतिहास पुरुषों का आदर्श सामने रखकर सभी जन परम ब्रह्म के पद को पाने मुक्ति मार्ग के पथिक बनें। इसी मंगल भावना के साथ.....।

❑

तीन मुक्तक

जिससे स्वय की पहचान हो वह ज्ञान है
आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने का नाम ध्यान है
पर पदार्थों से मिलन तो खूब हुआ आज तक
जो स्वयं से मिला दे वह निर्वाण है

पुण्य के प्रताप से पाप का घड़ा फोड़ दो
आत्मा के जौहरी बन काँच कचरा छोड़ दो
हो जायगा शीघ्र ही कल्याण तुम्हारा
एक बार अपने गुरु से नाता जोड दो

आत्मानुभूति ही समयसार है
सत्य अहिंसा के बिना जीवन बेकार है
समत्व सरगम की स्वर लहरियाँ छेड़ो आतम
"समता" का संगीत ही जीवन का सार है

("मुक्त मकरंद" से)

क्षमावाणी

विचार शुद्धि का आध्यात्मिक पर्व

विचार बड़े ही संक्रामक होते हैं। बड़ी तेजी के साथ फैलने वाले ये विचार छींक या खांसी की तरह वातावरण को एकदम प्रभावित करते हैं। तभी तो माली को देखकर बगीचे में पुष्प खिल जाते हैं, आनन्दित होते हैं और तोडने वाले को देखकर वह भयभीत होते हैं। हमारे मन के अच्छे बुरे भावों की पहचान वह बड़ी आसानी से कर लेते हैं, इस बात को आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है कि मानव जाति की तरह पशु पक्षियों और पेड़ पौधों के रूप में फैले हुये वनस्पति जगत में भी संवेदना रहती है और यही कारण है कि हमारे रुख को देखकर ही पशु पक्षी आदि अपनी प्रतिक्रिया करते हैं।

'क्षमावाणी' का यह पावन पर्व जहॉ विचार शुद्धि पर बल देता है तो वहीं वचन और व्यवहार में भी मधुरता लाने की प्रेरणा देता है अर्थात् वचन, विचार और व्यवहार में विनम्रता, मधुरता और समरसता लाना ही इस पर्व का उद्देश्य है। आत्मीयता, भाईचारे और विश्वबन्धुत्व की भावनाओं से ओतप्रोत होकर जाने अनजाने में हुई वर्ष भर की गल्तियों को स्वीकार कर क्षमा मांगना तथा क्षमा कर देना अपने भीगे हृदय, विचार परिमार्जन की कसौटी है। अपने अहं को गलाकर कषायों पर विजय पाना आसान बात नहीं है। व्यापक विशाल आकाश–हृदय वाले व्यक्ति को ही यह सम्भव है इसलिये इसे विश्व मैत्री दिवस कहते हैं। बैर, बुराई, द्वेष, दंभ, ईर्ष्या और कलुषित परिणामों से चारों ओर जो भाव–प्रदूषण फैलता है उसे यह आयोजन पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में भाव–परिमार्जन रूप उत्तम प्रतिफल प्रदान करता है। इसमें जहाँ व्यक्तिशः जीवन परिवर्तित होता है तो वहीं परिवार, समाज और राष्ट्र का भी वातावरण सुखद एवं सौहार्दपूर्ण बनता है।

वर्षों पुरानी बैर, बुराई की ग्रन्थि गांठों को खोलकर विरोधी से भी पश्चाताप पूर्वक क्षमा भाव से गले मिलना और उसके साथ स्वल्पाहार या भोजन कर लेना जैन समाज के क्षमावाणी पर्व की सबसे बडी उपलब्धि है। **"जो काम सजा देने के बाद भी एक अदालत नहीं करा सकती वह काम भीगे भावों से भरा यह क्षमावाणी पर्व करा देता है।"** पर्यूषण पर्व के बाद सुविधानुसार किसी एक दिन इस कार्यक्रम का आयोजन सामाजिक स्तर पर रखा जाता है। जैनी लोग इसे आपस में सद्भाव, सौहार्द या मैत्री मिलन मिलाप का भी पर्व मानते हैं। अहंकार, अज्ञानता या निजी स्वार्थों की टकराहट से जो व्यवहार में कटुता आई थी, मनोमालिन्य होने से बोलचाल बन्द हुआ था उसे आज मन की शुद्ध भाव धारा से धोया जाता है। आंखों में आंसू ला देने वाला यह प्रीति पर्व सचमुच ही जैन जगत का सार्थक चिन्तन और उसकी जीवंत परिणति है।

इस अवसर पर क्षमावाणी कार्ड भेजकर भी दूर दराज बैठे हुये लोगों से क्षमा याचना कर मैत्री का हाथ बढ़ाया जाता है। उद्देश्यपूर्ण इन परम्पराओं का आज भी निर्वाह हो रहा है परन्तु समय के प्रभाव से इनका स्वरूप भी अब बदलता जा रहा है, आज तो शत्रुता रखने वाले से नहीं बल्कि परिचितों, मित्रों से ज्यादा क्षमा मांगी जाती है। उन्हें ही कार्ड भेजे जाते हैं जिनसे कुछ भी बुराई नहीं है। उनसे क्षमा याचना कर गले मिलना और उन्हें ही क्षमा पत्र प्रेषित करना इस भावभीने पर्व को छूने वाली औपचारिकता भी नहीं है। हम इस पर्व की वास्तविकता को समझें और जीवन में भी क्षमा भाव लाने का प्रयास करें तभी हमारा यह पर्व मनाना सार्थक होगा।

इन्हीं पंक्तियों के साथ –

वाणी में ही नहीं, प्राणी में भी क्षमा आनी चाहिये,
कम से कम आज तो इस मानी प्राणी को पानी पानी हो जाना चाहिये

❑

दशलक्षणधर्म–पूजा

(कविवर द्यानतरायजी)

अडिल्ल

उत्तम छिमा मारदव आरजव भाव हैं,
सत्य सौच संयम तप त्याग उपाव हैं।
आकिंचन ब्रह्मचरज धरम दश सार हैं,
चहुँगति–दुखतैं काढ़ि मुकति करतार हैं।।

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्म ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्म ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्म ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

सोरठा

हेमाचलकी धार, मुनि–चित सम शीतल सुरभि।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्येति दशलक्षणधर्माय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

चन्दन केशर गार, होय सुवास दशों दिशा।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।

ॐ ह्रीं उत्तम क्षमादिदशलक्षणधर्माय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

अमल अखण्डित सार, तन्दुल चन्द्र समान शुभ।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

फूल अनेक प्रकार, महकें ऊरध–लोकलों।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

नेवज विविध निहार, उत्तम षट–रस–संजुगत।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

बाति कपूर सुधार, दीपक–ज्योति सुहावनी।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

अगर धूप विस्तार, फैले सर्व सुगन्धता।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

फलकी जाति अपार, घ्रान–नयन–मन–मोहने।
भव आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्माय फलं निर्वपामीति स्वाहा।

आठों दरब संवार, "द्यानत" अधिक उछाहसों।
भव–आताप निवार, दस–लच्छन पूजौं सदा।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्मायार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अंगपूजा (सोरठा)

पीड़ैं दुष्ट अनेक, बाँध मार बहुविधि करैं।
धरिये छिमा विवेक, कोप न कीजै पीतमा।।

उत्तम छिमा गहो रे भाई, इह भव जस पर–भव सुखदाई।
गाली सुनि मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहै अयानो।।
कहि है अयानो वस्तु छीनै, बाँध मार बहुविधि करै।
घरतैं निकारै तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै।।
तैं करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा।
अति क्रोध–अगनि बुझाय प्रानी, साम्य–जल ले सीयरा।।
(ॐ ह्रीं उत्तमक्षमाधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

मान महाविषरूप, करहि नीच–गति जगत में।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावै प्रानी सदा।।

उत्तम मार्दव–गुन मन माना, मान करन कौ कौन ठिकाना।
वस्यो निगोद माहितैं आया, दमरी रूकन भाग बिकाया।।
रूकन बिकाया भाग वशतैं, देव इकइन्द्री भया।
उत्तम मुआ चाण्डाल हूवा, भूप कीडों में गया।।
जीतव्य जोवन धन गुमान, कहा करैं जल–बुदबुदा।
करि विनय बहु–गुन बडे जनकी, ज्ञानका पावै उदा।।
(ॐ ह्रीं उत्तममार्दवधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

कपट न कीजै कोय, चोरन के पुर ना बसै।
सरल सुभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा।।

उत्तम आर्जव–रीति बखानी, रंचक दगा बहुत दुखदानी।
मनमें हो सो वचन उचरिये, वचन होय सो तनसौं करिये।।
करिये सरल तिहुँ जोग अपने, देख निरमल आरसी।
मुख करै जैसा लखै तैसा, कपट–प्रीति अंगारसी।।
नहिं लहै लछमी अधिक छल करि, करम–बन्ध–विशेषता।
भय त्यागि दूध बिलाव पीवै, आपदा नहिं देखता।।
(ॐ ह्रीं उत्तमार्जवधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

कठिन वचन मति बोल, पर–निन्दा अरु झूठ तज।
साँच जवाहर खोल, सतवादी जगमें सुखी।।
उत्तम सत्य–बरत पालीजै, पर–विश्वासघात नहिं कीजै।
साँचे झूठे मानुष देखो, आपन पूत स्वपास न पेखो।।
पेखो तिहायत पुरुष साँचेको, दरब सब दीजिये।
मुनिराज–श्रावक की प्रतिष्ठा साँच गुण लख लीजिये।।
ऊँचे सिंहासन बैठि वसु नृप, धरम का भूपति भया।
वच झूठसेती नरक पहुँचा, सुरग में नारद गया।।
(ॐ ह्रीं उत्तमसत्यधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)
धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देहसों।
शौच सदा निरदोष, धरम बड़ो संसार में।।
उत्तम शौच सर्व जग जाना, लोभ पापको बाप बखाना।
आशा–पास महा दुखदानी, सुख पावै सन्तोषी प्रानी।।
प्रानी सदा शुचि शील जप तप, ज्ञान ध्यान प्रभावतैं।
नित गंग जमुन समुद्र न्हाये, अशुचि–दोष सुभावतैं।।
ऊपर अमल मल भर्यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।।
बहु देह मैली सुगुन–थैली शौच–गुन साधू लहै।।
(ॐ ह्रीं उत्तमशौचधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)
काय छहों प्रतिपाल पंचेन्द्री मन वश करो।
संजम–रतन सम्भाल, विषय चोर बहु फिरत हैं।।
उत्तम संजम गहु मन मेरे, भव–भव के भाजैं अघ तेरे।
सुरग–नरक–पशुगति में नाहीं, आलस–हरन करन, सुख ठाहीं।।
ठाहीं पृथी जल आग मारुत, रूख त्रस करुना धरो।
सपरसन रसना घ्रान नैना, कान मन सब वश करो।।
जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग–कीचमें।
इक घरी मत विसरो करो नित, आव जम–मुख बीचमें।।
(ॐ ह्रीं उत्तमसंयमधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

तप चाहैं सुरराय, करम–शिखर को वज्र है।
द्वादशविध सुखदाय, क्यों न करै निज सकति सम।।
उत्तम तप सबमाहिं बखाना, करम–शैलको वज्र–समाना।
वस्यो अनादि–निगोद–मँझारा, भू–विकलत्रय–पशु–तन धारा।।
धारा मनुष तन महादुर्लभ, सुकुल आव निरोगता।
श्रीजैनवानी तत्त्वज्ञानी, भई विषय–पयोगता।।
अति महा दुरलभ त्याग विषय, कषाय जो तप आदरैं।
नर–भव अनूपम कनक घरपर, मणिमयी कलसा धरैं।
(ॐ ह्रीं उत्तमतपोधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)
दान चार परकार, चार संघको दीजिए।
धन बिजुली उनहार, नर–भव लाहो लीजिए।।
उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषध शास्त्र अभय आहारा।
निहचै राग–द्वेष निरवारै, ज्ञाता दोनों दान सँभारै।।
दोनों सँभारे कूप–जलसम, दरब घरमें परिनया।
निज हाथ दीजे साथ लीजे, खाय खोया बह गया।।
धनि साधु शास्त्र अभय–दिवैया, त्याग राग विरोधको।
बिन दान श्रावक साधु दोनों, लहैं नाहीं बोधको।।
(ॐ ह्रीं उत्तमत्यागधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)
परिग्रह चौबिस भेद, त्याग करैं मुनिराजजी।
तिसना भाव उछेद, घटती जान घटाइए।।
उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रह–चिंता दुख ही मानो।
फाँस तनकसी तनमें सालै, चाह लंगोटी की दुख भालै।।
भालै न समता सुख कभी नर, बिना मुनि–मुद्रा धरैं।
धनि, नगन पर, तन–नगन ठाड़े, सुर असुर पायनि परैं।।
घरमाँहि तिसना जो घटावै, रुचि नहीं संसारसौं।
बहु धन बुरा हू भला कहिये, लीन पर–उपगारसौं।।
(ॐ ह्रीं उत्तमाकिञ्चन्यधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

शील–बाढ़ नौ राख, ब्रह्म–भाव अन्तर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नर–भव सदा।।

उत्तम ब्रह्मचर्य मन आनौ, माता बहिन सुता पहिचानौ।
सहैं वान–वरषा बहु सूरे, टिकै न नैन–वान लखि कूरे।।
कूरे तियाके अशुचि तनमें, काम–रोगी रति करैं।
बहु मृतक सड़हिं मसान माहीं, काग ज्यों चोंचैं भरैं।।
संसार में विषयाभिलाषा तजि गये जोगीश्वरा।
"द्यानत" धरम दश पैंडि चढ़िकैं, शिव–महल में पग धरा।।
(ॐ ह्रीं उत्तमब्रह्मचर्यधर्माङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

समुच्चय-जयमाला (दोहा)

दश लच्छन बन्दौं सदा, मन–वांछित फलदाय।
कहों आरती भारती, हमपर होहु सहाय।।

वेसरीछन्द

उत्तम छिमा जहाँ मन होई, अन्तर–बाहिर शत्रु न कोई।
उत्तम मार्दव विनय प्रकासै, नानाभेद ज्ञान सब भासै।।
उत्तम आर्जव कपट मिटावै, दुरगति त्यागि सुगति उपजावै।
उत्तम सत्य–वचन मुख बोले, सो प्रानी संसार न डोले।।
उत्तम शौच लोभ–परिहारी, सन्तोषी गुण–रतन–भंडारी।
उत्तम संयम पालै ज्ञाता, नर–भव सफल करै ले साता।
उत्तम तप निरवांछित पालै, सो नर करम–शत्रुको टालै।
उत्तम त्याग करै जो कोई, भोगभूमि–सुर–शिवसुख होई।।
उत्तम आकिंचन व्रत धारै, परम समाधि दशा विसतारै।
उत्तम ब्रह्मचर्य मन लावै, नर–सुर सहित मुकति–फल पावै।।

दोहा

करै करमकी निरजरा, भव पींजरा विनाश।
अजर अमर पदकों लहै, **"द्यानत"** सुखकी राश।।
(ॐ ह्रीं उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्य दशलक्षण धर्मेभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।।) ❑

जिनवाणी स्तुति

हे! भारती माँ हे! भारती माँ
तेरी उतारें सभी आरती माँ...

अर्हन्त भाषी ये जिनवाणी प्यारी
गणधर ऋषि और मुनियों ने धारी
जो तुमको ध्याते सुख शांति पाते
जीवन की नैया को तू तारती माँ
हे! भारती माँ

तेरे श्रवण से खुशी मन में छाई
नया बोध पाया नई राह पाई
दया धर्म संयम के पथ पर चलें हम
अतः आज मिलकर करें आरती माँ
हे! भारती माँ

माँ तेरी महिमा को कैसे बताऊँ
अल्पज्ञ हूँ भक्ति से सिर झुकाऊँ
सद्ज्ञान का सूर्य तम को करे दूर
ज्योति सदा फैले भू भारती माँ
हे! भारती माँ

रचयिता
मुनि समतासागर

❑